इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

BECE-145
भारतीय अर्थव्यवस्था I

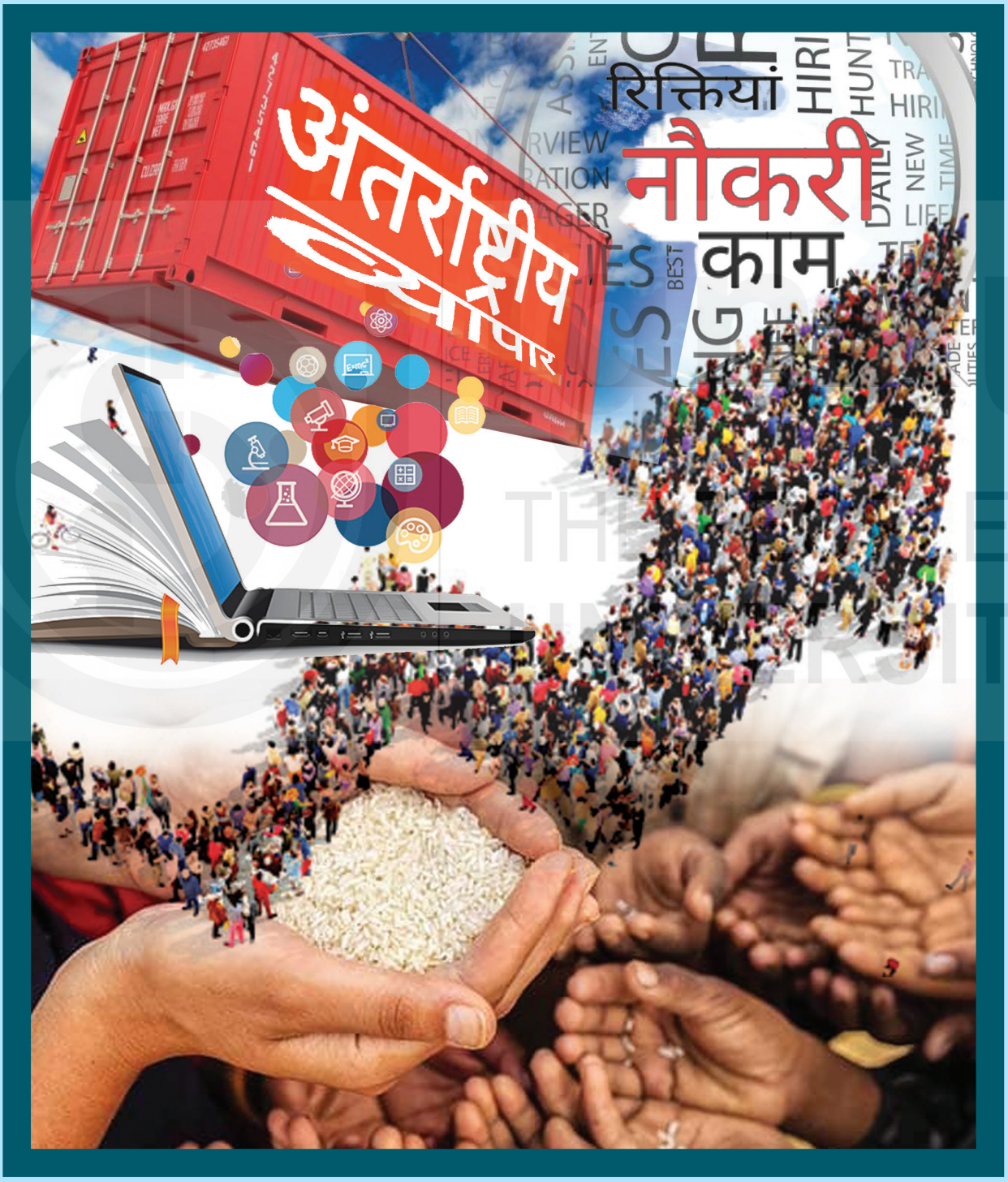

BECE145

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ

भारतीय अर्थव्यवस्था-I

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

सामाजिक विज्ञान विद्यापीठ
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति

प्रो. अतुल शर्मा
मानव विकास संस्थान
नई दिल्ली

प्रो. पी.के. चौबे
आई.आई.पी.ए.
नई दिल्ली

प्रो. एम.एस. भट्ट
जामिया मिलिया इस्लामिया
नई दिल्ली

डॉ. इंद्राणी राय चौधरी
जे.एन.यू.
नई दिल्ली

श्री. बी.एस.बागला
पीजीडीएवी कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. गोपीनाथ प्रधान
अर्थशास्त्र संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. नारायण प्रसाद
अर्थशास्त्र संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. के. बारिक
अर्थशास्त्र संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

श्री सौगातो सैन
अर्थशास्त्र संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

प्रो. बी.एस. प्रकाश
(पाठ्यक्रय संयोजक)
अर्थशास्त्र संकाय
इग्नू, नई दिल्ली

पाठ्यक्रम निर्माण दल

खंड 1	**स्वतंत्रता पश्चात् आर्थिक विकास**	
इकाई 1	स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अर्थव्यवस्था	सुश्री विशाखा गोयल, सहायक आचार्य, शारदा विश्वविद्यालय
इकाई 2	विकास प्रतिमान	प्रो. सेबक जाना, विद्या सागर विश्वविद्यालय
इकाई 3	संरचनात्मक परिवर्तन	प्रो. असीम कर्माकर, जादवपुर विश्वविद्यालय एवं प्रो. बी.एस प्रकाश, इग्नू
इकाई 4	संसाधन और संरोध	प्रो. सेबक जाना, विद्या सागर विश्वविद्यालय
खंड 2	**जनसंख्या एवं मानव विकास**	
इकाई 5	जनांकिकीय अभिलक्षण	प्रो. सुमनेश दत्त, असम विश्वविद्यालय
इकाई 6	शिक्षा क्षेत्र	प्रो. सेबक जाना, विद्या सागर विश्वविद्यालय
इकाई 7	स्वास्थ्य तथा पोषण	डॉ. स्मृतिकन घोष, सहायक आचार्य, स्कॉटिश कॉलेज, कोलकाता
खंड 3	**संवृद्धि एवं वितरण**	
इकाई 8	गरीबी	डॉ. स्मृतिकन घोष, सहायक आचार्य, स्कॉटिश कॉलेज, कोलकाता
इकाई 9	विषमता	डॉ. स्मृतिकन घोष, सहायक आचार्य, स्कॉटिश कॉलेज, कोलकाता
इकाई 10	रोज़गार एवं बेरोज़गारी	प्रो. बी.एस प्रकाश, इग्नू एवं डॉ. कर्माकर, जादवपुर विश्वविद्यालय
खंड 4	**अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएँ**	
इकाई 11	संवृद्धि एवं संरचनात्मक परिवर्तनों का तुलनात्मक वर्णन	डॉ. असीम कर्माकर, जादवपुर विश्वविद्यालय
इकाई 12	भारत का सामाजिक एवं आर्थिक विकासः तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य	प्रो. डी.एन. रेड्डी, उस्मानिया विश्वविद्यालय
इकाई 13	व्यापार और भुगतान शेष	सुश्री विशाखा गोयल, सहायक आचार्य, शारदा विश्वविद्यालय
इकाई 14	शासन व संस्थाओं की भूमिका : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारत	प्रो. डी.एन. रेड्डी, उस्मानिया विश्वविद्यालय

सामान्य संपादन

विषय वस्तु, स्वरूप और संपादन : प्रो. बी.एस. प्रकाश एवं श्री. बी.एस.बागला

अनुवाद कर्त्ता : श्री कुमुद कुमार

अनुवाद संशोधक : श्री. बी.एस.बागला

मुद्रण प्रस्तुति
श्री तिलक राज
सहायक कुलसचिव (प्रकाशन)
एमपीडीडी, इग्नू, नई दिल्ली

सचिवालीय सहयोग/रेखा चित्रांकन
श्री यशपाल
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
एमपीडीडी, इग्नू, नई दिल्ली

जनवरी, 2021

© इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

ISBN:

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अन्य पाठ्यक्रमों विषयक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली–110068 से सम्पर्क करें अथवा हमारी वेबसाइट *http://www.ignou.ac.in* पर जाएं।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से कुलसचिव, सामग्री निर्माण एवं वितरण प्रभाग द्वारा प्रकाशित
लेज़र टाइप सेट :टेसा मीडिया एण्ड कंम्प्यूटर्स
मुद्रण :

विषय सामग्री

खंड 1	**स्वतंत्रता पश्चात् आर्थिक विकास**	**7**
इकाई 1	स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अर्थव्यवस्था	9
इकाई 2	विकास प्रतिमान	24
इकाई 3	संरचनात्मक परिवर्तन	39
इकाई 4	संसाधन और संरोध	56
खंड 2	**जनसंख्या एवं मानव विकास**	**73**
इकाई 5	जनांकिकीय अभिलक्षण	75
इकाई 6	शिक्षा क्षेत्र	93
इकाई 7	स्वास्थ्य तथा पोषण	108
खंड 3	**संवृद्धि एवं वितरण**	**127**
इकाई 8	गरीबी	129
इकाई 9	विषमता	147
इकाई 10	रोज़गार एवं बेरोज़गारी	163
खंड 4	**अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएँ**	**179**
इकाई 11	संवृद्धि एवं संरचनात्मक परिवर्तनों का तुलनात्मक वर्णन	181
इकाई 12	भारत का सामाजिक एवं आर्थिक विकास : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य	195
इकाई 13	व्यापार और भुगतान शेष	215
इकाई 14	शासन व संस्थाओं की भूमिका : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में भारत	232

शब्दावली

संदर्भ ग्रंथादि

पाठ्यक्रम : परिचय

पहला खंड (**खंड-1**) स्वतंत्रता के बाद से आर्थिक विकास पर है। स्वतंत्रता के समय उत्तराधिकार स्वरूप मिली अर्थव्यवस्था की दशा को समझकर आगे बढ़ना महत्त्वपूर्ण है। **इकाई 1** स्वतंत्रता के समय की आर्थिक स्थिति का ब्यौरा दे रही है। आप जानते होंगे कि विकास के प्रति वैकल्पिक दृष्टिकोण सुझाने वाले अनेक सिद्धांत हैं। आपको इन्हीं से **इकाई 2** ''विकास विमर्श'' में परिचित कराया जा रहा है। अर्थव्यवस्था के ग्रामीण–शहरी विभाजनों, प्राथमिक/द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों में कार्यरत् श्रमिकों के अनुपात एवं इन क्षेत्रों के जीडीपी में योगदानों में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के सात दशकों (1950-2020) में बहुत महत्त्वपूर्ण बदलाव आ चुके हैं। इन्हीं का विवरण **इकाई 3** 'संरचनात्मक परिवर्तन' में दिया गया है। **इकाई 4** 'संसाधन एवं संरोध' के रूप में भारतीय अर्थव्यवस्था के संसाधन आधार की जानकारी आपको दे रही है।

स्वतंत्रता के बाद से अर्थव्यवस्था ने अपने मानव विकास के अभिलक्षणों में काफी प्रगति की है। इस प्रगति का विवरण **खंड-2** जनसंख्या और मानव विकास में समाहित है। खंड में जनांकीय अभिलक्षण (**इकाई 5**), शिक्षा क्षेत्र (**इकाई 6**) तथा स्वास्थ्य एवं पोषण संबंधी जानकारी (**इकाई 7**) में दी गई है। नियोजित विकास के गहन प्रयास के बाद भी संवृद्धि के सभी लाभ समाज के सभी भागों तक समान रूप से नहीं पहुँच पाए। इसी को ध्यान में रखते हुए **खंड-3** को संवृद्धि और वितरण पर केंद्रित रखा गया है। इसमें तीन महत्त्वपूर्ण पक्षों पर विचार किया गया है, यथा गरीबी (**इकाई 8**), विषमता (**इकाई 9**) तथा रोज़गार और बेरोज़गारी (**इकाई 10**) पर।

यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि हमारा विकास पथ पर गमन एशियाई एवं अन्य क्षेत्रों की अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में किस प्रकार चला है। इसी परिप्रेक्ष्य को **खंड-4** अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएँ में चर्चा का केंद्र बनाया गया है। इसमें चार महत्त्वपूर्ण पक्षों पर बातचीत की गई है, यथा संवृद्धि एवं संरचनात्मक परिवर्तन (**इकाई 11**), सामाजिक एवं आर्थिक विकास (**इकाई 12**), व्यापार एवं भुगतान शेष (**इकाई 13**) तथा प्रशासन एवं संस्थाएँ (**इकाई 14**)।

हमारा प्रयास रहा है कि पाठ्यक्रम को संकल्पनाओं और विधियों पर केंद्रित रखा जाए। यह यथासंभव विषय सामग्री को समय निरपेक्ष बनाए रखने के लिए किया गया है। जहाँ कहीं सांख्यिकीय आँकड़े प्रयोग किए गए हैं वहाँ आंकड़ों के विश्लेषण में आंकलन से आपका परिचय कराने का ही उद्देश्य रहा है। उदाहरण के लिए, संवृद्धि विकास का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है जबकि गरीबी और विषमता विकास परिणामों के आवंटन वितरण को दर्शाती है। रोज़गार और बेरोज़गारी विकास के अन्य समष्टि स्तरीय आयाम को अभिव्यक्त करने वाले चर हैं। इन आयामों उपलब्धियों और त्रुटियों को आंकलन के लिए विश्लेषणात्मक सूचकों की आवश्यकता होती है। उनके आंकलन में आँकड़े चाहिए और आँकड़ों के प्रकाशन की अलग-अलग अवधियों के कारण उनकी सुलभता में समय के अंतर आ जाते हैं। यही नहीं, पूर्व प्रकाशित आंकड़ों में प्रायः संशोधन भी होते रहते हैं। इससे पूर्व आंकलित सूचक अपनी आंकलन अवधि के प्रति संवेदनशील हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में, जब अधिक नवीन आंकड़े प्राप्त होंगे तो आंकलित मानों में बदलाव भी अवश्य आएंगे।

इन बातों का ध्यान रखते हुए हमारा यह पाठ्यक्रम आपको आर्थिक समीक्षा जैसे आधिकारिक और मानक आंकड़ा स्रोत से परिचित करा रहा है। यह वार्षिक प्रकाशन प्रतिवर्ष केंद्रीय बजट एक एकदम पहले आता है और इसे अब ऑनलाइन भी प्रकाशित

किया जाता है। यह इसे आसानी से सर्वसुलभ बना देता है। यह विभिन्न स्रोतों में प्रकाशित आंकड़ों को उनकी सामयिक विविधता के साथ एक साथ लाता है। उदाहारण के लिए, जनगणना 10 वर्षों में होती है तो राष्ट्रीय सांख्यिकीय संगठन के सर्वेक्षण पाँच-पाँच वर्ष में प्रकाशित होते हैं। इसका अर्थ है कि 2020 की आर्थिक समीक्षा में भी कुछ आंकड़े तो बहुत पहले के समय बिंदुओं से संबंधित होंगे। नवीनतम आंकड़े राष्ट्रीय आय के होंगे, वह भी 2019 के। अतः अध्येताओं को यह ध्यान रखना होगा कि इस सामग्री में दिए गए आंकड़े वाले उद्धरण के लिए हैं। उन्हें यह परामर्श दिया जा रहा है कि वे नवीनतम आर्थिक समीक्षा के आंकड़ों को लेकर सूचकों का स्वयं आंकलन कर उनके रुझानों को समझने का प्रयास अवश्य करें। यह आपको भारतीय अर्थव्यवस्था में संवृद्धि और वितरण में नवीनतम रुझानों से परिचित रखेगा।

आपको यह भी ध्यान देना चाहिए कि आंकड़े जितने ऐतिहासिक होते हैं, उनमें उतनी ही अधिक स्थिरता होती है। अधिक नवीन आंकड़ों में बार-बार बदलाव आने की संभावना रहती है। इसे यदि एक परिप्रेक्ष्य प्रदान करें तो 1951-2000 तक अर्थव्यवस्था की संवृद्धि में वर्ष 2050 आने पर भी कोई बदलाव नहीं आएगा। किंतु 2001-2020 के निष्पादन के सूचकों में अगले कुछ वर्षों तक अवश्य परिवर्तन होते रहेंगे। नवीनतम आंकड़ों के विषय में यह सावधानी बरतना आवश्यक है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खंड 1

स्वतंत्रता पश्चात् आर्थिक विकास

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खंड 1 स्वतंत्रता पश्चात् आर्थिक विकास

इस पाठ्यक्रम का प्रथम खंड-1 'स्वतंत्रता पश्चात् आर्थिक विकास' है। इसमें भारत की उत्तराधिकार में प्राप्त अर्थव्यवस्था और उसके बाद के दशकों में विभिन्न सोपानों में हुए विकास का चित्रण किया गया है। विकास के विभिन्न आयामों को चार इकाइयों में निबद्ध किया गया है– प्रत्येक की अपनी-अपनी विषयधारा है।

इकाई-1 स्वतंत्रता के समय अर्थव्यवस्था है। इसमें कृषि, उद्योग तथा मुद्रा एवं वित्त के तीन प्रमुख आयामों में स्वतंत्रता के समय अर्थव्यवस्था की स्थिति का चित्रण किया गया है। इसमें ऊपरि संरचना पर भी कुछ ध्यान दिया गया है। इस भाग में स्वतंत्रता के समय अर्थव्यवस्था की सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक संरचना की स्थिति पर चर्चा की गई है।

इकाई 2 विकास प्रतिमान है। यह विकास के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रारंभ हुई है। बाज़ार प्रेरित और सरकार प्रेरित, समाहनकारी और धारणीय संवृद्धि आदि संकल्पनाएँ इसकी विषय वस्तुएँ हैं। पूँजीवाद और समाजवाद की दो प्रमुख अर्थ रचनाओं में भेद भी यहीं स्पष्ट किया गया है। भारत में दो प्रमुख सोपानों, कुछ दशकों तक सार्वजनिक क्षेत्र के नेतृत्व में विकास नियोजन (सोपान-I) और फिर बाज़ारों को अधिक भूमिका (सोपान-II) पर भी विस्तृत चर्चा की गई है। विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारत के समेकीकरण के प्रेरक कारणों की भी व्याख्या भी की गई है।

इकाई 3 संरचनात्मक परिवर्तनों पर केंद्रित है। इसमें दशकों से हो रहे राष्ट्रीय आय संवृद्धि, बचत निवेश, रोज़गार, शहरीकरण आदि के परिवर्तनों पर चर्चा की गई है। समय के साथ क्षेत्रीय विषमताओं और पूँजी उत्पाद अनुपात में अनुक्रमिक परिवर्तनों पर भी चर्चा की गई है।

इकाई 4 संसाधन और संरोध है। यहां प्राकृतिक और मानव निर्मित संसाधनों में भेद स्पष्ट किया गया है। भौतिक और सामाजिक ऊपरि संरचनाओं का अंतर भी बताया गया है। विकास में ऊपरि संरचना की भूमिका, भारत में इस संरचना का विकास और संस्थाओं तथा प्रशासन के महत्त्व की व्याख्या भी इस इकाई में की गई है।

इकाई 1 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अर्थव्यवस्था*

संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 विषय प्रवेश

1.2 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

1.2.1 कृषि

1.2.2 उद्योग

1.2.3 मुद्रा और वित्तीय क्षेत्र

1.3 अवसंरचना की स्थिति

1.3.1 सामाजिक अवसंरचना

1.3.2 आर्थिक अवसंरचना

1.3.3 प्रशासनिक अवसंरचना

1.4 समष्टि-अर्थशास्त्रीय समुच्चय

1.5 सार-संक्षेप

1.6 शब्दावली

1.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि :

- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय कृषि की दशा का वर्णन कर सकें;
- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय कृषि क्षेत्र के समक्ष समस्याएँ बता सकें;
- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय उद्योग की दशा का ख़ाका खींच सकें;
- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय 'मुद्रा एवं वित्तीय क्षेत्र' की दशा इंगित कर सकें;
- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में 'अवसंरचना' की दशा स्पष्ट कर सकें; तथा
- स्वतंत्रता प्राप्ति के समय 'समष्टि समुच्चयों' का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर सकें।

1.1 विषय प्रवेश

ब्रिटिश शासन काल से पूर्व, भारत एक स्वतंत्र अर्थव्यवस्था था। उसका बड़े पैमाने पर निर्यात होता था और वह बदले में सोना व रत्न-मणियाँ प्राप्त करता था। आयात पर उसकी निर्भरता नाममात्रिक थी। अर्थव्यवस्था प्रमुखतः ग्रामीण थी परंतु स्वतंत्र और आत्मनिर्भर थी। राजा कलाकारों, शिल्पकारों और बुनकरों को संरक्षण दिया करते थे। परिवहन के साधन सीमित थे। अतः, व्यापार भी सीमित था, परंतु हर क्षेत्र अपने आप में विशेषज्ञता प्राप्त होता था।

* सुश्री विशाखा गोयल, सहायक आचार्य, शारदा विश्वविद्यालय

ब्रिटिश शासनकाल में, भारत से धन-दौलत का निर्गम देखा गया। भारतीय अर्थव्यवस्था की अधिकांश वर्तमान समस्याओं के मूल में ब्रिटिश शासनकाल की नीतियाँ ही हैं। इस इकाई में, हम वर्ष 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश की अभिभावी (अथवा जैसी वह हो गई) अर्थव्यवस्था के अभिलक्षणों पर सूक्ष्म दृष्टि डालेंगे। यह पुनरावलोकन हमें अपनी अधिकांश वर्तमान समस्याओं, जैसे– दरिद्रता, बेरोज़गारी के निर्मूलन एवं स्वास्थ्य रक्षा आदि के लिए आवश्यक प्रयास के महत्त्व को समझने में मदद करेगा।

1.2 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

स्वतंत्रता प्राप्ति की पूर्वसंध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था अल्पविकसित थी। व्यापक दरिद्रता के पीछे निम्न प्रप्ति व्यक्ति आय और निम्न राष्ट्रीय आय प्रमुख कारण थे। राष्ट्रीय आय का वितरण न्यायोचित नहीं था और इसलिए अमीर व गरीब के बीच खाई काफी गहरी थी। मुट्ठी भर धनी व्यक्ति, जो ब्रिटिश सरकार में सेवारत थे या किसी उद्योग के स्वामी थे, राष्ट्रीय आय का अपेक्षाकृत बड़ा हिस्सा भोग रहे थे जबकि अधिकांश निर्धन वर्ग उसका अपेक्षाकृत छोटा भाग ही पा रहा था। आय वितरण की असमानताएँ अर्थव्यवस्था के ग्रामीण एवं शहरी दोनों क्षेत्रों में देखी जाती थीं। अधिकांश जनसंख्या आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर थी। बहुत कम उद्योग अस्तित्व में थे, जिनमें मुख्यतः उपभोज्य वस्तुएँ ही बनाती थीं। मूल और मुख्य उद्योग गिनती में बहुत कम थे। यद्यपि प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्धों के दौरान भारत ने विभिन्न युद्ध-सामग्री व उपभोज्य वस्तुओं की आपूर्ति की थी, वास्तविक प्रौद्योगिकीय विकास के अभाव और पूँजी की कमी के कारण भारतीय उद्योग विश्वयुद्धोपरांत वर्षों में अधिक विकसित नहीं हो पाया। देश में यंत्र-समूह का उत्पादन नगण्य था। एकमात्र पूँजी उद्योग इस्पात था, लगभग 9 लाख टन उत्पादन कर सकता था। देश के पास प्राकृतिक संसाधनों का प्रचुर भण्डार था परंतु ये संसाधन या तो अल्प प्रयुक्त थे या फिर अप्रयुक्त। यह व्यापक बेरोज़गारी, निर्धनता और भूख में परिणत हुआ। बारंबार अकाल और सूखा आम बात थी जिनकी वजह से खाद्याभाव और भुखमरी होते थे। गरीबी का दुश्चक्र वर्ष दर वर्ष जारी रहा। लगभग 40 प्रतिशत जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे बसर कर रही थी। इस अति विस्तृत निर्धनता ने निम्न जीवन-स्तर और निम्न मानव विकास की ओर अग्रसर किया। भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि इतनी धीमी थी कि इसे 'निश्चल' कहा जाता था। आम आदमी की सबसे बड़ी लड़ाई भूख और व्यापक रोगों से ही थी। स्वास्थ्य, शिक्षा व अन्य विकास प्राचल– ये सभी बहुत निचले दर्ज़े पर थे। चलिए, भारतीय अर्थव्यवस्था के आर्थिक अभिलक्षणों का, क्षेत्रवार, सूक्ष्मतापूर्ण विश्लेषण करते हैं।

1.2.1 कृषि

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का प्रमुख क्षेत्र था। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय, लगभग 85 प्रतिशत जनसंख्या अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर थी। लेकिन राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान लगभग 50 प्रतिशत ही था। निवल रोपित क्षेत्र, जो कि लगभग 12.7 करोड़ हेक्टेयर था, देश के कुल दर्ज़ भू-क्षेत्र का लगभग 43.6 प्रतिशत होता था। खाद्य फसलें कुल कृष्य भूमि के तीन-चौथाई पर बोई जाती थीं जबकि एक-चौथाई नकदी फसलों की खेती के लिए प्रयोग की जाती थी। पैदा की जाने वाली महत्त्वपूर्ण खाद्य फसलें थीं– गेहूँ, धान, ज्वार, बाजरा आदि जबकि महत्त्वपूर्ण नकदी फसलें थीं– गन्ना, कपास और पटसन। भारत विश्व के कुल मूँगफली उत्पादन में 32 प्रतिशत, पटसन में 41 प्रतिशत और धान में 27 प्रतिशत का भागीदार होता था। तद्नुसार,

भारत विश्व में मूँगफली और गन्ने का सबसे बड़ा उत्पादक देश था। साथ ही, उसका स्थान कपास में अमेरिका और चीन के बाद तीसरा था। फिर भी उसका उत्पादन, कृषि के प्रति हेक्टेयर पर आकलित किए जाने पर, विश्व में सबसे कम में ही गिना जाता था। ब्रिटिश शासनकाल में, शिल्पकार व दस्तकार जैसे विभिन्न व्यवसायों हेतु समर्थन के अभाव में, सभी को अपनी आजीविका के लिए कृषि पर ही निर्भर रहना पड़ता था।

अंग्रेज़ भारत के विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न भू-राजस्व प्रणाली की विधियाँ अपनाए हुए थे। किसानों से ऊँचा लगान चुकाने की अपेक्षा की जाती थी, परंतु सरकार भूमि की उर्वरता बनाए रखने या उसे सुधारने के लिए अथवा पैदावार बढ़ाने के लिए सिंचाई सुविधाएँ प्रदान करने के लिए कुछ नहीं करती थी। भू-राजस्व की तीन प्रणालियाँ प्रचलित थीं– ज़मींदारी व्यवस्था (जिसके तहत् कुल भूमि का 58 प्रतिशत आता था), रैयतवाड़ी व्यवस्था (जिसके तहत भूमि का 38 प्रतिशत आता था) और महलवाड़ी व्यवस्था (जो कि मात्र 4 प्रतिशत क्षेत्र में लागू थी)। भू-राजस्व की परवर्ती दो प्रणालियों में, कृषि की उर्वरता सुधारने के लिए कुछ विकास कार्य हुआ, परंतु ज़मींदारी व्यवस्था में, ज़मींदारों को सिर्फ लगान अर्थात् भू-राजस्व वसूलने से ही मतलब होता था। ये ज़मींदार खेतिहरों से यथाशक्ति लगान ज़बरन वसूला करते थे, जिससे उनके पास अधिशेष शून्य ही रहता था। इसके परिणामस्वरूप किसानों के पास अपने खेतों में ताज़ा निवेश करने के लिए प्रोत्साहन शून्य रहता था। यद्यपि सरकार द्वारा कुछ क्षेत्रों में नहरों का जाल बिछाया गया था, यह सिंचाई कृषि के अंतर्गत आने वाले क्षेत्र का मात्र 17 प्रतिशत तक ही सीमित रहा। पंजाब जैसे कुछ राज्यों में, तो नहर सिंचाई प्रणाली शुरू की गई परंतु अधिकांश अन्य राज्यों/क्षेत्रों में इस दिशा में कोई पहल नहीं की गई। यह उपेक्षा भारतीय कृषि के पिछड़ेपन के लिए एक प्रमुख कारण रही। चूँकि कृषि क्षेत्र का योगदान सकल घरेलू उत्पाद का लगभग 50 प्रतिशत था, सिंचाई के साधन ध्यान दिया जाना चाहिए था। कृषि का विस्तार भी केवल सिंचाई के बढ़े साधनों से ही प्रोत्साहित किया जा सकता था। परंतु सिंचाई के ये साधन कुछ राज्यों तक ही सीमित थे।

बाज़ार मोर्चे पर, कृषि उपज के लिए औपचारिक/व्यवस्थित बाज़ार मौजूद ही नहीं थे। परिणामतः, कृषि से जुड़े बिचौलिये अधिकांश लाभ ले जाते थे। खेत से बाज़ारों तक सड़क मार्ग का पूर्णतः अभाव था। अपनी ऋण आवश्यकताओं के लिए, किसी संगठित ऋण व्यवस्था के अभाव में, छोटे किसान देशज साहूकार/महाजनों पर निर्भर करते थे। प्रायः, किसानों को ब्याज़ व मूल न चुका पाने के लिए अपनी ज़मीन से हाथ धोना पड़ता था। संयुक्त परिवार प्रणाली का व्यापक प्रचलन था। अतः, जब कभी कोई बेरोज़गार होता था तो वह परिवार की खेतीबाड़ी में ही शामिल हो जाता था। इससे प्रच्छन्न बेरोज़गार ने जन्म लिया। इस प्रकार, स्वतंत्रता प्राप्ति की पूर्वसंध्या पर, भारतीय कृषि निम्नलिखित समस्याओं से ग्रसित थी –

क) **प्रति हेक्टेयर कम उत्पादन :** किसानों की आय कम थी और भू-राजस्व तुलनात्मक रूप से अधिक था। इसलिए किसान अपने खेतों में निवेश करने की स्थिति में नहीं होते थे। सरकार मृदा स्वास्थ्य सुधारने के लिए, सिंचाई के साधन लगाने के लिए और कृषि विधियों में नवप्रवर्तन को प्रोत्साहित करने के लिए वांछित कदम नहीं उठाती थी। यहाँ तक कि काटो-और-जलाओ जैसी पुरातन तकनीकें, जिनसे माना जाता था कि मृदा स्वास्थ्य सुधर जाता है, अब प्रचलन में नहीं रही थी। कृषि आय बढ़ाने के लिए अधिक भूमि की आवश्यकता

थी। परंतु किसान कुछ माह तक के लिए भी कोई ज़मीन पट्टे पर नहीं ले सकते थे।

ख) **उत्पादन की पुरातन तकनीकें** : कृषि में आदिकालीन काठ के हल व अन्य उपकरणों का स्थान लोहे के औज़ारों ने ले लिया। परंतु ब्रिटिशकालीन शासन के दौरान कृषि में हुई यही एकमात्र प्रौद्योगिकीय उन्नति रही। सिंचाई के लिए कृषि मुख्यतः मानसून पर निर्भर थी, हालाँकि 1940 के दशकारंभ में, कुंओं और नहरों का विस्तार शुरू हो चुका था। सिंचाई के विकास का लाभ उठाकर चार क्षेत्र (पंजाब, मद्रास, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और सिंध) अपनी बंजर भूमि को खेती के काम में लगाने लगे थे। किंतु स्वतंत्रता के समय देश के अधिकांश भागों में सिंचाई की सुविधाएं विद्यमान ही नहीं थी। पंजाब और सिंध के नहर सिंचित क्षेत्र भी पाकिस्तान में चले गए थे।

ग) **कृषि के व्यापारीकरण का अभाव** : ब्रिटिश शासनकाल में, गन्ना, कपास, पटसन, अफ़ीम आदि जैसी व्यापारिक फसलों को उगाने की परंपरा बस शुरू ही हुई। कृषि के वाणिज्यीकरण के इस रुझान ने कृषि को उसके पटसन व सूती वस्त्र जैसे संबद्ध उद्योगों को कुछ सहारा दिया। तथापि, स्वतंत्रता प्राप्ति के समय, विभाजन के कारण, पटसन की खेती का अधिकांश उर्वर क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान को चला गया।

1.2.2 उद्योग

ब्रिटिश शासन से पूर्व कुछ क्षेत्रों में संकेंद्रित केवल कुछ ही उद्योग थे। उत्पादन में समरूपता का नितांत अभाव था। उदाहरण के लिए, खनन ब्रिटिश शासन से पहले भी होता था परंतु उसमें बहुत-से कर्मचारी नहीं रखे जाते थे। प्रमुख उद्योग कपास वस्त्र था, परंतु इसमें भी उच्च क्षेत्रीय भिन्नता नज़र आती थी। बहरहाल, देश को अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के समय विरासत में मिली उद्योग की ख़राब हालत को देखते हुए भारतीय उद्योगों को सुगठित करने के लिए किंचित् प्रयास किए गए थे। यह मुख्यतः चाय व कॉफी बागानों एवं चीनी मिलों जैसे क्षेत्रों में देखा गया। ब्रिटिश शासन काल से पूर्व, भारत से निर्यात अधिशेष रूप में दिखाई देता था; परंतु इस शासनकाल के दौरान, उन्नीसवीं शती उत्तरार्ध के आरंभ से, उत्पादन बढ़ाने के लिए मशीनें आ जाने के बावजूद, भारतीय वस्तुओं को अपेक्षाकृत सस्ती मशीन-निर्यात आयातित वस्तुओं से कड़ा मुकाबला करना पड़ता था। यद्यपि प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे, किंतु ब्रिटिश शासन के दौरान खनिज उद्योग की वृद्धि दर निम्न ही नही। यद्यपि रेलों के लिए कोयले की ज़रूरत थी, किंतु शुरू में देश में खनन के स्थान पर उसका आयात किया जा रहा था। हाँ, आगे चलकर उसका देश में खनन आरंभ हो गया।

रेलों के आगमन (वर्ष 1853 में) से भारतीय उद्योग के विस्तार हेतु नए बाज़ार खुल गए। सन् 1947 तक भारत में कुल 42 रेल-तंत्र स्थापित हो चुके थे। फिर भी, औद्योगिक विकास अभी तक निश्चल ही बना हुआ था। उद्योग एक सीमित क्षेत्र तक ही फैले थे और कुछ असमान रूप से वितरित क्षेत्रों में ही संकेद्रित थे। वर्ष 1905 तक भारत में आधुनिक सूती वस्त्र एवं पटसन उद्योग काफी प्रगति कर चुके थे। आज के महाराष्ट्र और गुजरात प्रांतों के सूती वस्त्र उद्योग के बड़े केंद्र विकसित हो गए थे। बीसवीं सदी में शुरुआती दशकों में रसायन, सीमेंट, उर्वरक, खनिज़ अम्ल, आदि उपभोज्य-वस्तु उद्योगों में भी उछाल देखा गया। तदोपरांत, द्वितीय विश्व युद्ध ने भारत के औद्योगिक इतिहास में एक नए दौर का सूत्रपात कर दिया। बड़े पैमाने के उद्योगों

के औद्योगिक उत्पादन ने कुछ विविधीकरण के साथ विस्तार पाया। परिणामस्वरूप, सभी वृहद्स्तरीय विनिर्माणन के उत्पादन का सामान्य सूचकांक 100 से बढ़कर 161.6 पर जा पहुँचा। कारखानों में रोज़गार का सूचकांक भी 100 से बढ़कर 159 पर पहुँच गया। बहरहाल, औद्योगिक आधार अथवा पूँजी उद्योगों के अभाव से औद्योगीकरण की प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकी। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय तक टाटा लौह एवं इस्पात कंपनी (TISCO), जो वर्ष 1905 में स्थापित हुई, भारत का एकमात्र प्रमुख पूँजी उद्योग था। भारत की प्रति व्यक्ति आय इतनी कम थी कि भारतीय अर्थव्यवस्था के पास मूल एवं पूँजी उद्योग लगाने के लिए पर्याप्त बचत/निवेश नहीं था। भारत के प्रौद्योगिकीय पिछड़ेपन में भी इसमें अपनी भूमिका निभाई। उक्त कंपनी (TISCO) स्थापित करने के लिए भी इंजीनियर ब्रिटेन से बुलाने पड़े ताकि उद्योग की नींव रखी जा सके। भारतीय उद्योगों का एक बड़ा आघात विभाजन से लगा। सर्वाधिक मार कपास और पटसन उद्योग पर पड़ी क्योंकि वे अपने कच्चे माल के लिए कृषि पर निर्भर थे। कच्चा पटसन पैदा करने वाले क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में चले गए थे, परंतु पटसन मिलें भारत में ही अवस्थित थीं। अतः, विभाजन के बाद, ये मिलें कच्चे माल के अभाव के कारण उत्पादन नहीं कर सकीं। विभाजन के समय, भारत में कुल 112 पटसन मिलें कार्यरत थी। कुल पटसन उत्पादन क्षेत्र का 85 प्रतिशत पूर्वी पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) में चला गया था। ऐसा ही कुछ सूती कपड़ा मिलों के साथ हुआ था। सर्वोत्तम कपास पैदा करने वाला क्षेत्र पाकिस्तान (सिंध और पश्चिम पंजाब) का हिस्सा हो गया। इसी कारण, स्वतंत्रता प्राप्ति की पूर्व-संध्या पर, इन मिलों के श्रमिक बेरोज़गार हो गए, जिसने नव-स्वतंत्र भारत में गरीबी को और बढ़ा दिया। वर्ष 1948–49 में, अनुषंगी क्षेत्र का योगदान सकल घरेलू उत्पाद का मात्र 6.6 प्रतिशत ही रहा। उद्योगों में रोज़गार देश की कुल जनसंख्या का मात्र 1.8 प्रतिशत था (वर्ष 1941 में लगभग 27.4 करोड़, जिनमें 60.2 प्रतिशत 15–59 आयु वर्ग के कर्मचारी थे) ये ही उद्योग में कार्यरत थे और वह भी उपभोज्य-वस्तु उद्योगों में। आयात पर भारत की अत्यधिक निर्भरता, ख़ासकर पूँजीगत माल के लिए, का मुख्य कारण यही था। इन्हीं कारणों से, जब भारत को आज़ादी मिली तो उसका विशालकाय व्यापार घाटा भारत में नई सरकार के समक्ष प्रमुख चुनौतियों में एक था।

1.2.3 मुद्रा और वित्तीय क्षेत्र

ब्रिटिश शासन काल से पूर्व, भारत के विभिन्न प्रांत अपनी-अपनी मुद्राएँ चलाते थे। सर्वमान्य मुद्रा की संकल्पना अंग्रेज़ों द्वारा व्यापार एवं लगान वसूली को सरल बनाने के लिए लाई गई। भारत वर्ष 1835 से 1893 तक एक-धातु रजत मानक (यथा, केवल चाँदी के सिक्के ही प्रचलन में थे) ही अपनाता रहा। इसका अर्थ है कि चाँदी की बेहद माँग थी, जिससे चाँदी आयात की आवश्यकता बढ़ गई और इसने भारत के उच्च भुगतान शेष (BoP) घाटे के मुख्य कारणों में एक बड़ी भूमिका निभाई। फरवरी, 1920 में चाँदी की कीमत में असाधारण उछाल ने मुद्रा-विनिमय स्थैर्य बनाए रखना बेहद कठिन बना दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज़ों ने इस उप-महाद्वीप में कागज़ी मुद्रा की शुरुआत की। वर्ष 1861 में 'पेपर करेंसी एक्ट' ने सरकार को ब्रिटिश इंडिया के समग्र विस्तृत भू-भाग में नोट जारी करने का एकाधिकार दे दिया। उस समय, भारतीय रुपया ब्रिटिश पाउंड से अनुबद्ध था और उसका मूल्य अमेरिकी डॉलर के बराबर था। इससे देश में आंतरिक एवं बाह्य व्यापार को बढ़ावा मिला।

वित्तीय व्यवस्था में आते हैं– (i) वित्तीय संस्थान (गैर-बैंकिंग एवं बैंकिंग), (ii) वित्तीय बाज़ार (शेयर बाज़ार), तथा (iii) साधन एवं सेवाएँ जो बचत को गतिशील बनाने में

और पूँजी निर्माण बढ़ाने में मदद करती हों। बैंकिंग क्षेत्र में कुछ ही बैंक दृष्टिगोचर होते थे। परिणामतः, बैंक जनसाधारण को सरलता से सुलभ नहीं थे। उधार देने वाले प्रमुख स्रोत साहूकार या महाजन ही थे। यद्यपि, वर्ष 1786 में भारत में प्रथम बैंक स्थापित हो चुका था, इस क्षेत्र का विकास बहुत धीमा था। तदोपरांत, तीन प्रांतों – बंगाल, कलकत्ता और मद्रास – में एक-एक बैंक स्थापित किया गया। कंपनी एक्ट (1913) में संयुक्त-पूँजी बैंकों से संबद्ध कुछ अनुच्छेद तो थे परंतु व्यापारिक महाजनी अर्थात् बैंक फर्म के लिए कोई विशेष विधान नहीं था। वर्ष 1936 के संशोधित भारतीय कंपनी अधिनियम में न्यूनतम पूँजी, नकद रिज़र्व वांछनीयताओं एवं अन्य प्रचालन शर्तों से जुड़े कुछ प्रावधान जोड़े गए। फिर भी, वर्ष 1949 तक भारत में वाणिज्यिक बैंकों संबंधी कोई एकीकृत वैधानिक विनियम नहीं था। भारतीय रिज़र्व बैंक की स्थापना वर्ष 1935 में एक निजी कंपनी के रूप में हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उक्त बैंक (RBI) का प्राधिकार मौद्रिक नीति तैयार करने तक बढ़ा दिया गया। परंतु उसे युद्ध की वित्तीयन लागत कम रखने के लिए एक सरकारी पहल वाली निम्न ब्याज़ दर नीति अपनाने और स्टर्लिंग संचय (विदेशी मुद्रा-विनिमय) के माध्यम से धनापूर्ति बढ़ाने के लिए बाध्य किया गया। वर्ष 1913 व 1948 के बीच भारत में लगभग 1100 लघु बैंक विद्यमान थे। इस क्षेत्र के तीव्रतर विकास के लिए, सरकार ने बैंकिंग कंपनी अधिनियम, 1949 लागू किया, जिसे आगे चलकर बैंकिंग विनियम अधिनियम, 1949 कहा जाने लगा। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में कुछ सहकारी बैंक बनाए गए और बाद में ये भी बैंकिंग अधिनियम के तहत् विनियमित कर दिए गए। बैंकिंग संस्थाओं का ग्रामीण क्षेत्रों में नितांत अभाव था। इस अभाव को दूर करने के लिए काफी बाद में, वर्ष 1982 में, राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (NABARD) की स्थापना की गई।

देश में पूँजी-निर्माण बढ़ाने के लिए शेयर बाज़ार आवश्यक हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति-पूर्व अवधि में देश में केवल तीन शेयर बाज़ार थे [बॉम्बे स्टॉक एक्सचेंज, 1877; अहमदाबाद स्टॉक एक्सचेंज, 1894; और कलकत्ता स्टॉक एक्सचेंज, 1908], जो सरकार द्वारा नियंत्रित नहीं थे। स्वतंत्रता प्राप्ति पश्चात्, भारत सरकार ने संयुक्त-पूँजी कंपनियों को बढ़ावा देने के लिए अनेक कदम उठाए। जनसामान्य की सेवा हेतु बैंकों की बेहद कमी थी। ऐसी छोटी-सी बैंकिंग व्यवस्था के साथ, बचत की गतिशीलता कठिन थी, जिस पर औद्योगिक क्षेत्र के तीव्रतर विकास हेतु तत्काल ध्यान दिए जाने की आवश्यकता थी।

बोध प्रश्न 1 (दिए गए स्थान में अपना उत्तर लगभग 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था के मुख्य अभिलक्षण क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय कृषि पर निर्भरता किस सीमा तक थी और अर्थव्यवस्था को योगदान में इसका कितना अंश था?

.....

.....

.....

.....

.....

3) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत किन फसलों के उत्पादन में विश्व में अग्रणी था?

.....

.....

.....

.....

.....

4) वे तीन क्षेत्र बताइए जिनमें कृषि क्षेत्र भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हानि उठा रहा था।

.....

.....

.....

.....

.....

5) बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में किन घटनाओं ने भारत में उद्योगीकरण को बढ़ाने में योगदान दिया।

.....

.....

.....

.....

.....

6) वह बड़ा आघात कौन-सा था जिससे सन् 1947 के आस-पास भारतीय उद्योग ने हानि उठाई?

.....

.....

.....

7) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारतीय अर्थव्यवस्था में उद्योग का योगदान किस सीमा तक था? भारतीय अर्थव्यवस्था पर इस दशा का क्या परिणाम रहा?

.....

.....

.....

.....

.....

8) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय बैंकिंग क्षेत्र की दशा में क्या कमी थी और इसको दूर करने के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् क्या तत्काल कदम उठाया गया?

.....

.....

.....

.....

1.3 अवसंरचना की स्थिति

यद्यपि अंग्रेज़ों ने कुछ आधारिक संरचना का विकास अवश्य किया, उनका मंतव्य इंग्लैंड को होने वाले विदेश व्यापार को सरल बनाना था। संचार सुविधाएँ बेहतर प्रशासनिक कारणों से विकसित की गई थीं। प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान, जब भारत ब्रिटेन की मदद कर रहा था, वायु परिवहन विकसित किया गया।

घरेलू उद्योगों के विकास हेतु वांछित अत्यधिक महत्त्वपूर्ण मूल अवसंरचना का अभाव था। उदाहरण के लिए, बिजली किसी भी उद्योग के विकास के लिए वांछित मूल अवसंरचनाओं में एक थी। परंतु भारत में विद्युत उत्पादन क्षमता लगभग नगण्य थी। इसी प्रकार, सड़क एवं पत्तन तक पहुँच मार्ग विकसित तो हुए मगर ये तैयार माल और कच्चा माल अपने मूल स्रोत से पत्तनों और पत्तनों से प्रमुख व्यापार-केंद्रो तक रास्तों तक ही सीमित थे। कुछ अन्य क्षेत्र थे जो सेना के त्वरित आवागमन के लिए रेलमार्ग से जुड़े थे। इससे कच्चे माल के निर्यात और तैयार माल के आयात को प्रोत्साहन मिला। कच्चा माल घरेलू उत्पादन के लिए भी प्रयोग किया जा सकता था परंतु अवसंरचना का अभाव औद्योगिक विकास मार्ग में एक बड़ा अवरोध था। संक्षेप में, स्वतंत्रता प्राप्ति के समय अवसंरचना का अभाव स्वातंत्र्योत्तर काल में नीति-निर्माताओं के समक्ष एक प्रमुख चुनौती बन गया। अवसंरचना को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है– भौतिक अवसंरचना और मानवीय अवसंरचना। भौतिक अवसंरचना में आते हैं– सड़कें, रेलमार्ग, वायुमार्ग, जलमार्ग, बिजली उत्पादन, बैंकिंग, बीमा, संचार माध्यम, आदि। इसे आर्थिक अवसंरचना भी कहा जाता है क्योंकि यह आय सृजन में सीधे योगदान देती है। अवसंरचना की दूरी श्रेणी, मानवीय अवसंरचना, सामाजिक अवसंरचना भी कहलाती है। इसमें लोगों का प्रशिक्षण एवं कौशल विकास शामिल होता है ताकि वे उत्पादन प्रक्रिया में योगदान दे सकें। यद्यपि सकल घरेलू उत्पाद पर सामाजिक अवसंरचना के विकास का प्रभाव कालांतर में प्रकट होता है, आर्थिक विकास के लिए यह बहुत ज़रूरी होता है।

1.3.1 सामाजिक अवसंरचना

सामाजिक अवसंरचना में वे परिसंपत्तियाँ आती हैं जो सामाजिक/मानवीय विकास में सहायक होती हैं। इनके उदाहरण हैं– विद्यालय, विश्वविद्यालय, अस्पताल, आवास व अन्य इमारतें। सामाजिक अवसंरचना मानव विकास के लिए वांछित होती है। ब्रिटिश शासन काल में मानव विकास को वरीयता प्राप्त नहीं थी। स्वास्थ्य-रक्षा क्षेत्र की स्थिति बुरी थी, जहाँ अस्पताल बड़े शहरों तक ही सीमित थे। प्राचीन स्वास्थ्य रक्षा व्यवस्था का भी ह्रास हो रहा था। परिणामतः, शिशु मृत्युदर, मातृ मृत्यु दर और मृत्यु दर– सभी बहुत ऊँची थीं। जीवाश मात्र 32 वर्ष थी। शिक्षा-क्षेत्र कुछ बेहतर था, परंतु वह सभी को सुलभ नहीं था। हालांकि, अंग्रेज़ों ने औपचारिक स्कूल शुरू किए, वे कुछ शहरों में ही सीमित रहे। अंग्रेज़ी शिक्षा ब्रिटिश प्रशासन में नौकरी पाने के लिए एक स्रोत बन गई। उच्च शिक्षा के लिए, समस्त जनसंख्या जो कि वर्ष 1941 में 27.4 करोड़ थी, केवल सोलह विश्वविद्यालय ही काम कर रहे थे। इसका अर्थ है कि 1.7+ करोड़ लोगों के लिए मात्र एक विश्वविद्यालय था। इससे प्रकट होता है कि शिक्षा जो कि मानव विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है, सभी के लिए यथेष्ट रूप से सुलभ नहीं थी। परिणामतः, स्वतंत्रता प्राप्ति के समय साक्षरता दर पुरुषों के बीच 16 प्रतिशत और स्त्रियों के बीच 7 प्रतिशत तक ही बनी रही।

1.3.2 आर्थिक अवसंरचना

आर्थिक अवसंरचना उत्पादन प्रक्रिया में सहायक होती है और इसका सीधा प्रभाव सकल घरेलू उत्पाद पर पड़ता है। इसे माँग-प्रेरित सेवा भी कहा जाता है। आर्थिक अवसंरचना के उदाहरणों में आते हैं– सड़कें, वायु मार्ग, रेलमार्ग, संचार संजाल, जलापूर्ति, सिंचाई प्रणालियाँ तथा बिजली।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक दूरवर्ती नौ भार-परिवहन का सर्वाधिक लोकप्रिय माध्यम नौगम्य नदियाँ ही थीं। निकटवर्ती व्यापार एवं यात्रा के लिए, परिवहन के सामान्य साधन बैलगाड़ियाँ और छोटी डिंगियाँ ही थे। दूरवर्ती व्यापार हेतु परिवहन की ऐसी व्यवस्थाओं से श्रम और समय दोनों ही बहुत लगते थे। रेलों के आगमन के साथ ही, लंबी दूरी की यात्रा में लगने वाले कम समय ने लोगों को रेलमार्गों की ओर आकर्षित किया। रेल निर्माण कार्य बड़े पैमाने पर 1850 के दशक में आरंभ हुआ। यह वर्ष 1870 तक लगभग अनन्य रूप से निजी क्षेत्र (इंग्लैंड के उद्यमियों) द्वारा ही किया जाता रहा। वर्ष 1870 में, जब सरकार को लगा कि रेलमार्गों का निर्माण एक लाभदायक व्यापार है तो उसने 'ब्रॉड गेज' प्रणाली द्वारा कलकत्ता, बंबई, मद्रास और दिल्ली को जोड़ने का काम किया। फिर 1920 के दशक तक भारत के सभी रेलमार्ग सरकारी प्रबंधन के तहत आ गए। तब तक भारतीय रेल व्यवस्था विश्व के सबसे बड़े संजालों में गिनी जाने लगी थी। रेल निर्माण कार्य ने भारत में अभियांत्रिकी उद्योग को प्रोत्साहित किया। इससे वित्तीय एवं श्रमिक बाज़ारों को भी बढ़ावा मिला। लोग अब नौकरियों के लिए दूरवर्ती स्थानों तक प्रवास कर सकते थे। ये प्रभाव प्रथम विश्वयुद्ध के समय तक ही क्षीण रहे। रेलमार्गों का प्रयोग दोनों विश्व-युद्धों के दौरान उद्योग विकसित करने के लिए किया गया। सरकार ने मरम्मत और कलपुर्ज़ों के उत्पादन के लिए भारत में रेल कार्यशालाएँ स्थापित कीं, परंतु इनके भरपूर इस्तेमाल का अभाव ही रहा। भारत में कोयला खनन रेलों की आवश्यकता पूर्ति के लिए ही आरंभ हुआ। भारत में आधारभूत धातु उद्योगों के लिए माँग के एक प्रमुख स्रोत स्वरूप रेलों की भूमिका, इस प्रकार महत्त्वपूर्ण रही।

कच्चा माल और तैयार माल लाने-ले जाने के लिए आवश्यक आधारभूत अवसंरचना सड़कें ही उपलब्ध कराती हैं। उचित सड़कों के अभाव में, कुछ भी लाना-ले जाना कठिन होगा। सड़कें औपनिवेशिक राजकीय निवेश का एक निम्न पूर्वता क्षेत्र ही रहीं क्योंकि सेना के आवागमन के लिए घोड़े प्रयोग किए जाते थे। केवल ऐसे ही मार्गों को ही महत्त्व दिया जाता था जो रेलमार्गों व पत्तनों तक कच्चा माल लाने-ले जाने के लिए वांछित थे। सड़कों की लंबाई रेल-पटरियों की लंबाई की अपेक्षा कम गति से बढ़ी। वर्ष 1931 तक, 'पक्की' सड़कों की लंबाई प्रति एक हज़ार व्यक्ति मात्र 0.4 किलोमीटर थी। यह अनुपात अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों (सीलोन एवं मलय) में तो 1.5 किलोमीटर से ऊपर था। सड़क-निर्माण से सरकार को लाभ अपेक्षाकृत कम था। भारत के पास एक लंबी तटरेखा थी जो ब्रिटिश शासनकाल में व्यापार एवं वाणिज्य हेतु प्रयोग की जाती थी। मौसुलीट्टनम और कैम्बे जैसे परंपरागम पत्तनों का ह्रास देखा गया। अधिकांश विदेश व्यापार करने वाले प्रमुख पत्तन अब नए स्थल थे, जहाँ रेलमार्ग और आधुनिक बंदरगाह अभिमुख होते थे (जैसे– बंबई, मद्रास, कलकत्ता, कराची और रंगून)। इनमें से प्रत्येक पत्तन किसी विशाल पृष्ठ प्रदेश के उत्पादों के लिए एक निर्यात ब्रिक्री-केंद्र की भूमिका निभाता था। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय, द्रुत औद्योगिक विकास में अवरोध आर्थिक अवसंरचना के अभाव से ही उत्पन्न हुआ।

डाक सेवाएँ वर्ष 1858 में ब्रिटिश शासन काल में ही आरंभ हुईं परंतु उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में ही ये व्यापक रूप से प्रयुक्त जनोपयोगी सेवाएँ बन सकीं। यह विस्तार माँग-प्रेरित था क्योंकि बैंकों के अभाव में, डाकघर ही धन संबंधी स्वदेशीय प्रेषणों हेतु अभिकरण के रूप में काम करते थे। डाकघर लगभग सभी बसे गाँवों में विद्यमान होते थे। डाकघरों की अवसंरचना तदंतर ग्रामीण भारत में बचत को बढ़ावा देने के लिए प्रथम भारतीय सरकार के लिए उपयोगी साबित हुई।

अवसंरचना विकास की प्रक्रिया में अंतर्निहित असमानताएँ देखी गईं। बड़े हिस्सों में सिंचाई व्यवस्थाएँ पुरातन और अविकसित ही रहीं। रेलमार्गों ने सड़कों को पीछे धकेल दिया और बिजली उत्पादन महत्त्वपूर्ण शहरों तक ही सीमित रहा। संचार और स्थानीय परिवहन में, इस प्रकार, बहुत अधिक क्षेत्रीय भिन्नता देखी जाती थी।

1.3.3 प्रशासनिक अवसंरचना

प्रशासनिक अवसंरचना अन्य कई संस्थाओं को चलाने एवं महत्त्वपूर्ण सेवाएँ देने के लिए वांछित होती है। यह भौतिक एवं मानवीय अवसंरचना का एक संयोजन होती है जो किसी भी सरकार के लिए सकल प्रशासन का चलाने में मददगार होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व भारत के हर प्रांत में अपनी ही प्रशासनिक व्यवस्था थी। इतने बड़े क्षेत्र पर शासन करने के लिए प्रशासनिक अवसंरचना विकसित करना एक बाध्यकारी कारण बन गया। भू-राजस्व विभाग प्रत्येक प्रांत में खोला गया था। जनसामान्य की ओर से विप्लव एवं विद्रोह प्रायः देखने में आते थे। इसीलिए, किसी भी विद्रोह को रोकने के लिए स्थानीय पुलिस स्टेशन स्थापित करना ज़रूरी हो गया था। डाक एवं तार विभाग सूचना के तीव्रतर आवागमन के लिए जगह-जगह खोले गए। चुनावों की प्रक्रिया भी ब्रिटिश शासन काल में ही शुरू हुई और इसी कारण चुनाव कराने के लिए आवश्यक अवसंरचना स्थापित की गई। यद्यपि यह अवसंरचना समस्त जनसंख्या तक सेवाएँ पहुँचाने के लिए, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी, पर्याप्त नहीं थी, एक ही प्रशासनिक अवसंरचना को भारत सरकार के विभिन्न प्रशासनिक प्रकार्यों के लिए प्रयोग करना पड़ता था।

1.4 समष्टि-अर्थशास्त्रीय समुच्चय

किसी भी अर्थव्यवस्था का कार्य-निष्पादन किसी वित्त वर्ष में उत्पादित वस्तु एवं सेवाओं की मात्रा के आधार पर आँका जा सकता है। जब हम इस कुल उत्पादन को मौद्रिक पदों में आकलित करते हैं तो इसे सकल घरेलू उत्पाद (GDP) कहा जाता है। इस समूहन के अलावा, किसी अर्थव्यवस्था की शक्ति मापने के अन्य समष्टि-अर्थशास्त्रीय संकेतक भी हैं। उदाहरण के लिए, वस्तु एवं सेवाओं के उत्पादन हेतु आवश्यक पूँजी को पूँजी-निर्माण एवं बचत के माध्यम से मापा जाता है। इसी प्रकार अर्थव्यवस्था के कार्य-निष्पादन को समता के दृष्टिकोण से आँके जाने के लिए, प्रति व्यक्ति आय (PCI) की वृद्धि दर पर विचार किया जाता है। यह दर (PCI) कुल जनसंख्या को राष्ट्रीय आय से विभाजित कर ज्ञात की जाती है।

वर्ष 1900–1947 के दौरान राष्ट्रीय आय मात्र 0.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी। प्रति व्यक्ति आय और भी कम अर्थात् 0.1 प्रतिशत की दर से ही बढ़ी। इसी प्रकार, वर्ष 1900 से 1947 तक लगभग 50 वर्ष की अवधि में प्रति व्यक्ति आय किंचित् सी ही वृद्धि दर्शाती है (तालिका 1.1)। तद्नुसार, राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि बेहद कम रही। भारत के विभिन्न राज्यों में वास्तविक आय में वृद्धि दर असमान रही। राष्ट्रीय आय का अधिकतम भाग कृषि से आता था (तालिका 1.2)। इसके बावजूद, कृषि क्षेत्र की संवृद्धि राष्ट्रीय आय के सभी तीन योगकारी क्षेत्रों में सबसे कम पाई गई।

तालिका 1.1 : राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय (1900–1947) 1948 की कीमतों में

वर्ष	राष्ट्रीय आय (अरब में)	प्रति-व्यक्ति आय (रुपयों में)
1900	43.4	228
1947	51.5	239

स्रोत :तीर्थंकर रॉय, दि इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया : 1857–1947, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस; तीसरा संस्करण।

नोट : 47 वर्ष की अवधि में राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर 0.36 प्रतिशत रही और प्रति व्यक्ति आय में यही दर 0.1 प्रतिशत रही। उक्त वृद्धि दरें एक्सल में यह सूत्र प्रयोग कर जाँची जा सकती हैं = (दर, – 43.4, 51.5)*100. प्रति व्यक्ति आय भी इसी प्रकार जाँची जा सकती है।

तालिका 1.2 : राष्ट्रीय आय क्षेत्रीय अंश (%)

वर्ष	प्राथमिक	द्वितीयक	तृतीयक	विदेश से निवल आय
1900–1904	6.6	12	23.5	–1.5
1942–1946	53.3	14.5	32.3	–0.2
प्रतिवर्ष वृद्धि दर	0.4	1.4	1.7	

स्रोत : तपन राय चौधरी व अन्य, इकोनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया : भाग 2, कैंब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस।

द्वितीयक क्षेत्र में खनन, बड़े पैमाने के उद्योग व लघु उद्योग आते थे। वृहद् उद्योग 4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा, लेकिन उससे कहीं बड़ा भाग, यथा, लघु उद्योग एक प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी कम की दर से बढ़ा। तृतीयक क्षेत्र के भीतर सरकारी उपक्रमों का योगदान 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से जबकि परिवहन और स्थावर संपदा 1.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा। जैसा कि ऊपर कहा गया, भारतीय अर्थव्यवस्था की समग्र औसत वृद्धि दर वर्ष 1900 से 1947 की अवधि में 0.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के इतिहासकार एंगस मैडसिन द्वारा किए गए एक आकलन के अनुसार, वैश्विक आय में भारत का अंश वर्ष 1700 में 22.6 प्रतिशत (यूरोप के 23.3 प्रतिशत अंश के मुकाबले) से गिरकर वर्ष 1952 में मात्र 3.8 प्रतिशत रह गया। वैश्विक आय में भारत के अंश में यह क्रमिक गिरावट स्पष्ट करती है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में गरीबी क्यों थी।

बोध प्रश्न 2 (दिए गए स्थान में अपना उत्तर लगभग 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) इस तथ्य के बावजूद कि भारत सबसे बड़ा रेल संजाल वाला देश था और पटसन जैसे कुछ उत्पादों में विश्व के अग्रणी उत्पादकों में एक था, क्या यह दृष्टिकोण उचित है कि अंग्रेज़ों ने भारत की अवसंरचना को विकसित करने पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) वर्ष 1947 के आस-पास विद्यमान सामाजिक अवसंरचना के स्तर के लिहाज़ से ब्रिटिश नीति द्वारा घोर उपेक्षा के विषय में सामाजिक संकेतक क्या बताते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्या आप इस प्रस्थापन से सहमत हैं कि अंग्रेज़ों द्वारा अवसंरचना विकसित किए जाने के प्रति अपर्याप्त ध्यान दिए जाने से भारत में आर्थिक असमानताओं में इज़ाफा हुआ?

.....

.....

.....

.....

.....

4) वर्ष 1990 से 1947 तक 47 वर्ष की अवधि में भारत की राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति आय किस दर से बढ़ी? इन वृद्धि दरों के आलोक में भारतीय अर्थव्यवस्था के कार्य-निष्पादन का आप लक्षण-वर्णन कैसे करेंगे?

.....

.....

.....

.....

.....

1.5 सार-संक्षेप

अपनी आज़ादी के समय भारतीय अर्थव्यवस्था एक सुस्त और पराश्रित अर्थव्यवस्था थी। प्रतिव्यक्ति आय कम थी। विदेश व्यापार इंग्लैंड के उद्योगों की आवश्यकता पूर्ति हेतु ही अभिप्रेरित था। कृषि पर प्रति हेक्टेयर निम्न उत्पादकता का बोझ था। यह क्षेत्र सकल घरेलू उत्पाद में 65 प्रतिशत से अधिक का योगदान देता था परंतु इसकी वृद्धि दर अर्थव्यवस्था के तीनों अग्रणी क्षेत्रों (यथा, प्राथमिक, द्वितीयक एवं तृतीयक) में न्यूनतम, मात्र 0.4 प्रतिशत थी। इस प्रकार, लोगों की निर्भरता कृषि पर थी और वहाँ काफी प्रच्छन्न बेरोज़गारी व्याप्त थी। साक्षरता दर निम्न थी, जन्म दर और मृत्यु दर दोनों ही ऊँची थीं जबकि स्वास्थ्य पैरामीटर बेहद निम्न। साथ ही, महामारियाँ आए दिन फैलती थीं। फलतः, अर्थव्यवस्था में भूख और भुखमरी का बोलबाला था और भारत में बेरोज़गरी व्याप्त थी।

1.6 शब्दावली

प्रछन्न बेरोज़गारी : इसे 'अप्रकट बेकारी' भी कहा जा सकता है। यह उस समय होती है जब श्रमबल के पास या तो काम ही न हो या फिर वह इस तरीके से काम कर रहा हो कि उसमें उसकी सीमांत उत्पादकता शून्य हो।

अल्प-रोज़गार : यह एक ऐसी स्थिति है कि जब श्रमबल का कोई भाग काम करने का इच्छुक तो हो मगर उसे अपने कौशल, शिक्षा एवं क्षमता के अनुसार काम न मिल रहा हो।

वृद्धि दर : वृद्धि दर यह मापती है कि कोई चर कितनी तेज़ी से बढ़ रहा है। यदि यह आर्थिक वृद्धि दर है तो यह बताएगी कि कोई अर्थव्यवस्था कितनी तेज़ी से विकसित हो रही है। ऐसा एक तिमाही में देश के सकल घरेलू उत्पाद की तुलना पिछली तिमाही में उसकी गणना से करके किया जाता है। चारों तिमाहियों का औसत वार्षिक वृद्धि दर दर्शा देता है।

प्रतिव्यक्ति आय : प्रतिव्यक्ति आय राष्ट्रीय आय का वह औसत अंश है जो हर व्यक्ति प्राप्त कर रहा हो। यह राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से विभाजित कर ज्ञात की जा सकती है।

भुगतान शेष : इसमें शेष जगत के साथ देश के लोगों एवं सरकार के सभी लेन-देन सारबद्ध किए जाते हैं। इन लेन-देनों में वस्तुओं,

सेवाओं एवं पूँजी के आयात-निर्यात के साथ-साथ विदेशी मदद एवं प्रेषण जैसे हस्तांतरण भुगतान भी शामिल होते हैं।

1.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1) Tirthankar Roy, The Economic History of India: 1857-1947, Oxford University Press; 3 Edition.

2) Tapan Raychaudhuri, Dharma Kumar, Meghnad Desai and Irfan Habib, The Cambridge Economic History of India: Volume 2, C.1751-c.1970: Cambridge University Press.

3) Dharma Kumar (ed.) (1982). Cambridge Economic History of India Vol. 11, Orient Longmans, Hyderabad.

4) Kapila, Uma (ed.), 2006-07. Indian Economy Since Independence, 18th Edition, Academic Foundation, Delhi.

1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) (i) व्यापक बेरोज़गारी, गरीबी और भूख; (ii) बारंबार अकाल एवं सूखा; (iii) राष्ट्रीय आय का असमान विवरण; (iv) कृषि पर अत्यधिक निर्भरता; (v) उद्योगीकरण का निम्न स्तर; (vi) निम्न स्वास्थ्य, शिक्षा व अन्य विकास प्राचल, आदि।

2) क्रमशः 85 प्रतिशत जनसंख्या और 50 प्रतिशत।

3) भारत मूँगफली क सबसे बड़ा उत्पादक था (विश्व उत्पादन का 32 प्रतिशत), 41 प्रतिशत पटसन और 27 प्रतिशत धान। यह विश्व में अमेरिका व चीन के बाद तीसरा सबसे बड़ा कपास का उत्पादक था।

4) प्रति हेक्टेयर कम उत्पादन, उत्पादन की पुरानी तकनीकें तथा कृषि के व्यापारीकरण का अभाव।

5) दो विश्व-युद्धों में सूती वस्त्र एवं पटसन, रसायन, सीमेंट, उर्वरक, आदि जैसे उद्योगों के विकास में योगदान दिया।

6) विभाजन से कपास व पटसन उद्योगों को करारा झटका लगा, ख़ासकर पटसन उद्योग को, क्योंकि अनेक पटसन पैदा करने वाले क्षेत्र पूर्वी पाकिस्तान में चले गए थे।

7) जनसंख्या का 1.8 प्रतिशत भाग उद्योग में नियोजित था, जहाँ सकल घरेलू उत्पाद में उसका योगदान 6.6 प्रतिशत था। इस कारण भारत को अपनी आज़ादी के समय काफी व्यापार घाटा उठाना पड़ा।

8) बैंकिंग सेवाएँ ग्रामीण क्षेत्रों में बेहद अपर्याप्त थी। इसी से उबरने के लिए नाबार्ड की स्थापना की गई।

बोध प्रश्न 2

1) हाँ, यह न्यायोचित है। अपने निजी हित को ध्यान में रखते हुए वस्तुओं के आवागमन को सरल बनाने के लिए ही अंग्रेज़ों द्वारा चयनात्मक आधार पर रेलमार्ग और सड़कें विकसित की गईं। घरेलू उत्पादन को आसान बनाने के लिए बिजली, सड़कें आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवसंरचना का विकास अपूर्ण ही छोड़ दिया गया था। इसके अलावा, सामाजिक अवसंरचना के विकास अथवा मानव विकास को प्राथमिकता नहीं दी गई, जो कि आर्थिक विकास के लिए अति महत्त्वपूर्ण था।

2) पुरुष साक्षरता मात्र 16 प्रतिशत थी और महिला साक्षरता सिर्फ 7 प्रतिशत। जहाँ शिशु मृत्यु दर, मातृ मृत्यु दर और समग्र मृत्यु दर बहुत अधिक थीं, जीवन-प्रत्याशा मात्र 32 वर्ष थी।

3) हाँ, ऐसा इसलिए है कि रेलमार्गों पर ध्यान दिए जाने से सड़कों पर से ध्यान हट गया और बिजली उत्पादन महत्त्वपूर्ण शहरों तक ही सीमित रहा। संचार और स्थानीय परिवहन में, इस प्रकार, भारी क्षेत्रीय अंतर देखा गया। बड़े हिस्सों में सिंचाई व्यवस्थाएँ भी घिसी-पिटी और अविकसित थीं।

4) क्रमशः 0.4 प्रतिशत और 0.1 प्रतिशत (संयुक्त वार्षिक वृद्धि दरें)। ये वृद्धि दरें दर्शाती हैं कि बीसवीं सदी पूर्वार्ध में भारतीय अर्थव्यवस्था निष्क्रिय प्राय ही थी।

इकाई 2 विकास प्रतिमान*

संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 विषय प्रवेश

2.2 विकास के प्रति दृष्टिकोण

- 2.2.1 बाज़ार-आधारित दृष्टिकोण
- 2.2.2 राज्य-निर्देशित दृष्टिकोण
- 2.2.3 समावेशी संवृद्धि दृष्टिकोण
- 2.2.4 धारणीय विकास दृष्टिकोण

2.3 आर्थिक व्यवस्थाएँ : पूँजीवाद एवं समाजवाद

2.4 विकास के दो चरण : मिश्रित अर्थव्यवस्था

- 2.4.1 समादेशन शिखर पर सार्वजनिक क्षेत्र (चरण-I)
- 2.4.2 बाज़ार की वर्धमान भूमिका (चरण-II)

2.5 विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण

- 2.5.1 व्यापार-सकल घरेलू उत्पाद अनुपात
- 2.5.2 औसत शुल्क दर
- 2.5.3 निर्यात विविधीकरण
- 2.5.4 निर्यातों का उत्पाद संयोजन
- 2.5.5 निर्यातों की दिशा
- 2.5.6 वित्तीय एकीकरण

2.6 सार-संक्षेप

2.7 शब्दावली

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप, इस योग्य होंगे कि :

- 'संवृद्धि' एवं 'विकास' के बीच अंतर कर सकें;
- विकास के विभिन्न दृष्टिकोणों पर चर्चा कर सकें;
- पूँजीवाद एवं समाजवाद वाली दो आर्थिक व्यवस्थाओं के बीच भेद कर सकें;
- 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' की संकल्पना को परिभाषित कर सकें;
- भारत में अनुकृत विकास मार्गों के दो प्रमुख चरणों का विश्लेषण कर सकें; तथा
- विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के एकीकरण में रुझानों को स्पष्ट कर सकें।

* प्रो. सेबक जाना, विद्या सागर विश्वविद्यालय

2.1 विषय प्रवेश

आर्थिक संवृद्धि और आर्थिक विकास मूल रूप से भिन्न हैं। आर्थिक संवृद्धि का सामान्यतः अर्थ होता है – राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि। जबकि आर्थिक विकास में, वृद्धि के अतिरिक्त, स्वास्थ्य, शिक्षा व मानव कल्याण के अन्य पहलुओं के साथ-साथ औद्योगीकरण व शहरीकरण जैसे प्रमुख संरचनात्मक परिवर्तन भी शामिल होते हैं। विकास मापन हेतु विशिष्ट संकेतक (जैसे HDI) अथवा सहस्त्राब्दि विकास लक्ष्य (MDG) प्रयोग किए जाते हैं। मानव विकास सूचकांक (HDI) एक संश्लिष्ट मापदंड है जो एक दीर्घ जीवन, ज्ञानार्जन एवं भौतिक कल्याण की ओर उन्मुख लक्ष्यों को दर्शाता है। सहस्राब्दि विकास लक्ष्य (MDGs) किसी समय विशेष में मानव कल्याण में प्रगति हेतु लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की बहुलता पर निर्भर करते हैं।

2.2 विकास के प्रति दृष्टिकोण

ऐतिहासिक रूप से, विकास के आर्थिक विश्लेषण विषयक अनेक विचार-पद्धतियाँ अथवा विचार विद्यमान रहे हैं [यथा– एडम स्मिथ एंड क्लासिकल पॉलिटिकल इकोनोमी (1776), मार्क्सिस्ट इकनोमिक्स ऑफ़ मार्क्स एंड एंजल्स (1848), निओक्लासिकल इकनोमिक्स ऑफ़ जेवॅन्स, मेंजर एंड मार्शल (1890), केन्ज़ियन मैक्रोइकनोमिक्स (1930), सोलो की निओक्लासिकल ग्रोथ थ्योरी (1950), डिपेंडेंसी थ्योरीज़ (1960), आदि] पारंपरिक या शास्त्रीय एवं नवशास्त्रीय अर्थशास्त्रियों का मानना था कि अल्पविकास का प्रमुख कारण पूँजी व श्रम जैसे उत्पादन उपादानों की कमी अथवा प्रौद्योगिकीय प्रगति का अभाव होता है। केंजीय विचार-पद्धति के अनुसार, अल्पविकास संबंधी समस्याएँ सरकारी क्रियाकलापों के विस्तार से हल की जा सकती हैं। मार्क्स ने अल्पविकास की समस्याओं को उत्पादन की एशियाई रीति एवं वर्ग-संघर्ष के अभाव की दृष्टि से समझाया था। पॉल बैरन एवं आन्द्रे फ्रैंक जैसे नव-मार्क्सवादी लेखकों ने अल्प-विकास की समस्याओं को वैश्विक पूँजीवाद एवं शोषण जैसे बाह्य कारकों की दृष्टि से स्पष्ट किया है।

आर्थिक विकास के लक्ष्य हासिल करने के लिए अनेक दृष्टिकोण विद्यमान हैं। इन्हें उस विशिष्ट संस्थागत आधार की आवश्यकता होती है जिसके भीतर आर्थिक क्रियाकलाप संपन्न किए जाते हैं। स्थूलतः, बाज़ार एवं राज्य ऐसी दो वृहद् संस्थाएँ हैं जिनसे इन आर्थिक क्रियाकलापों को सरल बनाने की अपेक्षा की जाती है।

2.2.1 बाज़ार-आधारित दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण में यह मानकर चला जाता है कि, सुविकसित, पूर्णरूपेण प्रतिस्पर्धी बाज़ारों की दशाओं में, संसाधन लागतें न्यूनतम और लाभ अधिकतम करते हुए इष्टतम रूप से प्रयोग किए जाते हैं। मूल्य संकेतक, लाभों समेत, तीव्रतर संवृद्धि हासिल करने हेतु निवेशार्थ प्रोत्साहन के रूप में काम करते हैं। आदर्शतः, इसीलिए, बिना किसी हस्तक्षेप के पूर्णतः कार्यरत बाज़ारों को तीव्रतर संचयन एवं संवृद्धि हेतु एक रणनीति के रूप में देखा जाता है। तथापि, द्वितीय विश्व युद्धोत्तर काल में, जब अधिकांश पूर्व उपनिवेश स्वतंत्र हो गए और अपनी विकास प्रक्रिया में जुट गए, इन देशों को बाज़ारों में गंभीर अभावों का सामना करना पड़ा क्योंकि अनेक अर्थव्यवस्थाएँ अल्पविकसित थीं। बाज़ारों का अभाव विशेष रूप से 'निर्वाह प्रखंडों' में देखा जा सकता था। ये प्रखंड जनहित के ऐसे अनेक विकास क्षेत्रों से जुड़े थे जिनके लिए कोई बाज़ार नहीं था

परंतु असीम जन आवश्यकता अवश्य थी। इनमें से अनेक अल्प-विकसित बाज़ारों को राज्य द्वारा एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में विकसित करना पड़ा ताकि विकास प्रक्रिया को गति प्रदान की जा सके।

2.2.2 राज्य-निर्देशित दृष्टिकोण

अल्पविकसित देशों में, (i) निर्वाह कृषि, (ii) कमज़ोर औद्योगीकरण, (iii) व्यापक अल्प रोज़गार, (iv) निम्न आय, बचत एवं निवेश, (v) निकृष्ट अवसंरचना, आदि की विद्यमानता के कारण निवेश में बड़ी सहायता (big push) की आवश्यकता थी। राज्य हस्तक्षेप के समर्थकों के विचार से प्रमुख क्षेत्रों में वांछित आर्थिक परिवर्तन नियोजित संघटन एवं सार्वजनिक क्षेत्र को संसाधन आबंटन के माध्यम से हासिल किया जा सकता था। तथापि, ऐसी अनेक अर्थव्यवस्थाओं में जो आरंभ में इस दृष्टिकोण के पक्ष में थीं, सार्वजनिक क्षेत्र-निर्देशित संवृद्धि रणनीति उसके बाद से लाल-फ़ीताशाही, भ्रष्टाचार (किराया-अपेक्षी), अकुशलता एवं हानियों के आधार पर नीति लाभ से वंचित ही रही है। इन तर्कों के आधार पर, सामाजिक महत्त्व के विशिष्ट क्षेत्रों में राज्य की भूमिका घटाने और अर्थव्यवस्था में अवसंरचनात्मक आधार स्थापित करने की दिशा में रुझान देखा गया है। फिर भी, कुछ लोगों का तर्क है कि राज्य की भूमिका अल्प नहीं होनी चाहिए, विशेषकर स्वास्थ्य, शिक्षा एवं अवसंरचना के क्षेत्रों में, ताकि उद्यमवृत्तिपूर्ण क्रियाकलाप को फलने-फूलने हेतु उचित परिवेश मिल सके।

2.2.3 समावेशी संवृद्धि दृष्टिकोण

इस दृष्टिकोण में संवृद्धि और समता को परस्पर संपूरक माना जाता है। भारत में, पदबंध 'समावेशी संवृद्धि' ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007–12) में एक औपचारिक विकास रणनीति के रूप में दिखाई दिया। तथापि, 'न्याय के साथ संवृद्धि' अथवा 'समता के साथ संवृद्धि' की संकल्पना भारत में प्रथम योजना की शुरुआत से ही नियोजन रणनीति का हिस्सा रही है। 'न्याय के साथ संवृद्धि' (यथा, विवरणात्मक न्याय) हेतु मूल आधार-वाक्य यह रहा है कि धन-सम्पत्ति एवं परिसम्पत्तियों में छोर विषमताओं वाली किसी भी अर्थव्यवस्था में बिना हस्तक्षेप के राष्ट्रीय आय की वृद्धि असमानताओं के स्थायीकरण में ही परिणत होगी। दूसरे शब्दों में, संवृद्धि के अलावा, चूँकि असमानताओं में कमी लाना विकास के उद्देश्यों में से एक है, यह आवश्यक माना जाता है कि संवृद्धि रणनीति में समुचित संस्थागत व्यवस्थाएँ शामिल होनी चाहिए ताकि संवृद्धि के लाभों का न्यायोचित वितरण सुनिश्चित हो सके। न्यायोचित वितरण वाली संवृद्धि हेतु कोई भी सांस्थानिक प्राधार उत्पादन क्षेत्रों में राज्य की सार्थक भूमिका की कल्पना उतनी ही करता है जितनी कि उसके वितरण के विनियमन में।

2.2.4 धारणीय विकास दृष्टिकोण

धारणीय विकास यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि विश्व का ध्यान संवृद्धि पर होने की बजाय धारणीय विकास के लक्ष्य पर होना चाहिए ताकि 'सांझे की त्रासदी' से बचा जा सके, जो कि एक ऐसी स्थिति है जिसमें सामान्य संसाधनों का अतिदोहन किया जाता है, क्योंकि वैयक्तिक अभिकर्ताओं में उन्हें धारणीय रूप से प्रयोग किए जाने की अभिप्रेरणा का अभाव होता है। ब्रंटलैंड कमीशन रिपोर्ट (1987) में कहा गया कि – *धारणीय विकास ऐसा विकास है जो अपनी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भावी पीढ़ियों के सामर्थ्य से समझौता किए बग़ैर वर्तमान काल की आवश्यकताएँ पूरी करता हो।* अतएव, यह दो प्रमुख अनिवार्यताओं को रेखांकित करता है – (i)

विश्व के ग़रीब वर्ग के हितों के संरक्षण की आवश्यकता; तथा (ii) पर्यावरणीय संसाधनों का दोहन रोकने में प्रौद्योगिकी एवं सामाजिक संगठनों की कमज़ोरियाँ (ताकि भावी पीढ़ियों की आवश्यकताएँ प्रतिकूलतः प्रभावित न हों), जिन पर यथावत् प्रकाश डाले जाने की आवश्यकता है। उक्त आयोग ने विशेष रूप से किसी भी समाज के भीतर ग़रीबों और सामान्य रूप से अखिल विश्व की आवश्यकताओं को पहले पूरा करने की आवश्यकता पर बल दिया। धारणीय विकास हेतु तर्काधार, इसीलिए खासकर 'अक्षतिपूर्तित' भावी लागतों को टालने अथवा कम करने पर यथायोग्य ध्यान देते हुए, समाज के सर्वाधिक अलाभान्वित प्रखंडों के जीवन-स्तर को ऊपर उठाना है। धारणीय विकास लक्ष्यों (SDGs) के अंतर्गत 17 लक्ष्य रखे गए हैं – (i) शून्य दरिद्रता; (ii) शून्य भुखमरी; (iii) उत्तम स्वास्थ्य एवं कल्याण; (iv) उत्कृष्ट शिक्षा; (v) लैंगिक समानता; (vi) स्वच्छ जल एवं स्वच्छता प्रबंध; (vii) आर्थिक पहुँच के भीतर व स्वच्छ ऊर्जा; (viii) उपयुक्त कार्य एवं आर्थिक वृद्धि; (ix) उद्योग, नवप्रवर्तन एवं अवसंरचना; (x) लघुकृत असमानता; (xi) धारणीय शहर एवं समुदाय; (xii) उत्तरदायित्वपूर्ण उपभोग एवं उत्पादन; (xiii) जलवायु प्रभाव; (xiv) जल जीवन; (xv) थल जीवन; (xvi) शांति, न्याय एवं सशक्त संस्थाएँ; तथा (xvii) लक्ष्य हासिल करने हेतु साझेदारियाँ।

2.3 आर्थिक व्यवस्थाएँ : पूँजीवाद एवं समाजवाद

पूँजीवाद एक ऐसी सामाजिक संरचना है जिसमें पूँजीवादी वर्ग समाज के उत्पादन साधनों पर अपने स्वामित्व एवं नियंत्रण के आधार पर फलता-फूलता है। यह, तद्नुसार, सम्पत्ति एवं उत्पादन साधनों के निजी स्वामित्व पर आधारित आर्थिक व्यवस्था होती है, जिसमें मुक्त बाज़ार काम करता है जो वस्तुओं एवं सेवाओं के विनिमय हेतु प्रतिस्पर्धा की अनुमति देता है। इस प्रकार, सिद्धांततः, व्यक्ति ही 'कैसे, क्या और किसके लिए उत्पादन करें' निर्धारित करते हैं। पूँजीवाद के तहत, लोग, तद्नुसार, अपने निजी हित साधने के लिए प्रोत्साहित किए जाते हैं जबकि माँग एवं आपूर्ति संबंधी बाज़ार शक्तियों पर आर्थिक क्रियाकलाप समन्वित करने के लिए भरोसा किया जाता है। विभिन्न देश भिन्न-भिन्न प्रकार के पूँजीवाद (आधुनिक युग में पाए जाने वाले) से संपन्न हैं, जैसे– राज्य-निर्देशित पूँजीवाद, वृहद्-प्रतिष्ठान पूँजीवाद तथा उद्यमवृत्तिपूर्ण पूँजीवाद। समाजवाद, दूसरी ओर, एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें उत्पादन साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर बल दिया जाता है। यह व्यवस्था प्रमुख उद्योगों के व्यापक सार्वजनिक स्वामित्व वाली अर्थव्यवस्था को चलाने में राज्य को एक बड़ी भूमिका सौंप देती है। यद्यपि समाजवाद बाज़ार शक्तियों को सीमित कार्यक्षेत्र ही प्रदान करता है, मार्क्स ने समाजवाद को 'किसी निजी उद्यम व्यवस्था के अंत और साम्यवाद के आरंभ' के बीच एक अंतरवर्ती अवस्था माना। समाजवाद के ऐतिहासिक क्रमविकास की प्रक्रिया में हम इसके विभिन्न रूप देखते हैं – (i) किसी केंद्रीय रूप से नियोजित आर्थिक व्यवस्था से जुड़ी समग्र अर्थव्यवस्था वाला समाजवाद। जैसा कि पूर्व सोवियत-सरीखी अर्थव्यवस्था में था); (ii) बाज़ार समाजवाद, यथा बाज़ार कार्यतंत्रों हेतु किसी भूमिका के साथ एक प्रकार के किंचित् परिवर्तित केंद्रीय नियोजन वाली अर्थव्यवस्थाएँ (उदाहरणार्थ, हंगरी एवं यूगोस्लाविया), जो कि इस प्रकार की नियोजित अर्थव्यवस्थाएँ होती हैं जहाँ बाज़ार का प्रयोग कर आबंटन सुधारने का प्रयास किया जाता है; आदि।

सिद्धांततः, इसीलिए, पूँजीवाद से भिन्न, समाजवाद एक ऐसी व्यवस्था है जो लोगों के अपने निजी स्वार्थ की अपेक्षा उनकी दूसरों के प्रति सद्भावना पर आधारित होती है।

तथापि, व्यवहारतः, समाजवाद एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था बन चुका है जो केंद्रीकृत नियोजन वाले उत्पादन साधनों के सरकारी स्वामित्व पर आधारित होती है। चूँकि समाजवाद एक ऐसी प्रणाली पर आधारित है जो पूर्व-सोवियत संघ में जन्मी, इसे प्रायः 'सोवियत शैली का समाजवाद' कहा जाता है। सन् 1980 के दशक में अनेक देश सोवियत शैली की समाजवाद अपनाते थे, परंतु '1980 के दशकांत और 1990 के दशकारंभ' में, इनमें से अनेक अर्थव्यवस्थाओं/देशों में अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हुई और उन्होंने बाज़ारोन्मुखी व्यवस्थाओं की ओर रुख कर लिया। चीन का उदाहरण केंद्रिकतापरक समाजवाद का एक अन्य रूप दर्शाता है, जो उच्च वृद्धि दरें, न कि सामाजिक स्वतंत्रता, सुनिश्चित करने के लिए बाज़ारों को प्राथमिकता देता है। अतएव, हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पूँजीवाद और समाजवाद नामक दो वृहद् व्यवस्थाओं के भीतर ही आयात-प्रतिस्थापन औद्योगीकरण अथवा निर्यातोन्मुखी संवृद्धि के लिहाज़ से अपनाए जाने वाले विकास पथ किसी भी देश के घरेलू सामाजिक एवं आर्थिक दबावों के चलते भिन्न-भिन्न होते हैं। आपको विदित ही होगा कि वर्ष 1991 में संकटपूर्ण भुगतान शेष के कारण पैदा हुए आर्थिक अवसाद की दशाओं के चलते भारत को आर्थिक सुधारों की नीतियाँ अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। तिस पर भी, हम कह सकते हैं कि देश के संविधान में प्रतिष्ठापित सामाजिक स्वतंत्रताओं वाली आर्थिक मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाने संबंधी भारत का निर्णय, जो 1950 के दशक में भी विवेकपूर्ण सिद्ध हुआ, जिसमें आरंभ में तैयार आयात-प्रतिस्थापन औद्योगीकरण रणनीति और तदन्तर तैयार निर्यातोन्मुखी संवृद्धि को अपनाए जाने के बीच विकल्प संतुलित परिप्रेक्ष्यों के आदर्श स्वरूप आज भी महत्त्व रखता है।

2.4 विकास के दो चरण : मिश्रित अर्थव्यवस्था

विकास संबंधी अपने दृष्टिकोण में, मिश्रित अर्थव्यवस्था राज्य और बाज़ार को एक परस्पर प्रबलनकारी प्राधार में जोड़ती है। इसमें सार्वजनिक उद्यम के साथ-साथ निजी क्षेत्र के उद्यमों का भी सह-अस्तित्व होता है। यह पूँजीवाद और समाजवाद की प्रमुख विशेषताओं को संयोजित करती है। इसका अर्थ है कि स्वहित और लाभ उद्देश्य के साथ पूँजीवादी उद्यम बहुत से सार्वजनिक क्षेत्र की उत्पादन इकाइयों के साथ-साथ अनेक क्रियाकलापों में भी चलते रहते हैं। परवर्ती उत्पादन के साथ-साथ सामाजिक क्षेत्रों में भी चलते हैं परंतु एक वृहत्तर सामाजिक हित के साथ प्राथमिक शिक्षा एवं प्राथमिक स्वस्थ्य परिचर्या जैसे क्षेत्रों में अधिक चलते हैं। भारत मिश्रित अर्थव्यवस्था का एक उत्तम उदाहरण माना जाता है, जो कि अपनी स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही इस आदर्श को अपनाता रहा है। जबकि सार्वजनिक एवं निजी, दोनों क्षेत्र सहअस्तित्व रखते थे, क्षेत्रों के बीच संसाधन आबंटन हेतु केंद्रीय नियोजन तंत्र को एक बड़ी भूमिका सौंपी गई थी। नियोजन प्रक्रिया के घोषित प्राथमिक उद्देश्य थे– सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक संवृद्धि तथा आत्मनिर्भरता। भारत की आरंभिक पंचवर्षीय योजनाओं ने एक मिश्रित अर्थव्यवस्था रणनीति के साथ आर्थिक विकास हेतु आधारभूत प्राधान प्रदान किया। इस नीति के पीछे स्पष्ट युक्तियुक्त विचार था– मूलभूत भारी उद्योगों एवं अवसंरचना क्षेत्रों के राज्य स्वामित्व के माध्यम से, अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक सशक्त अंश राज्य के हाथों में ही रखना और जहाँ पैमाने की मितव्ययताएँ आवश्यक न हों, निजी क्षेत्र को काम करने देना। इस दृष्टिकोण के पीछे मूल अवधारणा यह थी कि योजना प्रोत्साहन एवं बाज़ार दक्षता के एक विवेकसम्मत मिश्रण के माध्यम से, संवृद्धि एवं समता दोनों के उद्देश्यों का बलवर्धन किया जा सकता था। कृषि क्षेत्र में, उत्पादन निर्णय सामान्यतः सरकार की भूमिका के साथ निजी उत्पादकों

द्वारा लिया जाता था, जो कि सिंचाई सुविधाओं, विस्तारण सेवाओं एवं कुछ प्रमुख जिन्सों में व्यापार के माध्यम से अवसंरचना विकास तक ही सीमित रही। विनिर्माण एवं सेवा क्षेत्रों में, राज्य ने अनेक उद्योगों को अपनाकर और चलाकर तथा लाइसेंसिंग का साधन अपनाकर निजी निवेश को विनियमित कर एक प्रभावशाली भूमिका निभाई।

वर्ष 1991 में आर्थिक सुधार लागू होने के समय से ही, सार्वजनिक क्षेत्र हेतु अपने अनुकूल संकुचन के साथ निजी क्षेत्र की आर्थिक संभावना का संतोषजनक विस्तार देखा गया। तद्नुसार, भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था दृष्टिकोण के विषय में कहा जा सकता है कि यह आयोजन के आरंभिक चार दशकों में सार्वजनिक क्षेत्र हेतु समादेशन शिखर की स्थिति से एक ऐसी अवस्था में आ गया जहाँ अधिकांश स्थान निजी क्षेत्र एवं बाज़ार को दिया गया। आइए, अब अपने संक्रमणकाल में भारतीय अर्थव्यवस्था के इन दो सोपानों पर कुछ विस्तार से चर्चा करें।

2.4.1 समादेशन शिखर पर सार्वजनिक क्षेत्र (चरण-I)

किसी भी आर्थिक व्यवस्था में राज्य कम से कम तीन प्रमुख भूमिकाएँ निभा सकता है, यथा (i) वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादक के रूप में; (ii) समग्र व्यवस्था के नियामक के रूप में; और (iii) प्राथमिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य जैसे 'जन हितलाभ' अथवा 'सामाजिक हितलाभ' के आपूर्तिकर्ता के रूप में। वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादक स्वरूप प्रथम भूमिका नियोजन की व्यवस्था में व्यक्त होती है, जहाँ सार्वजनिक उद्यम प्रमुख उत्पादन क्रियाकलापों में संलिप्त होते हैं, कम से कम अर्थव्यवस्था के अति महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों (जैसे, विद्युत उत्पादन एवं वितरण) में तो अवश्य ही। 'नियामक' अथवा 'नियंत्रक' वाली दूसरी भूमिका अर्थतंत्र की गतिविधियों के नियम निर्धारित करने की है। वस्तुतः, बाज़ारों के आर्थिक निष्पादन की गुणवत्ता निर्णायक रूप से किसी संपूरक भूमिका द्वारा विनियमन के माध्यम से सरकारी हस्तक्षेप की गुणवत्ता पर निर्भर करती है। राज्य की तीसरी भूमिका एवं 'कल्याण प्रदायक' वाली है; यथा, यह भूमिका राज्य को वांछित अवसंरचना के प्रावधान के ज़रिए तथा मानव विकास की दिशा में किए जाने वाले प्रयासों द्वारा निजी पहलों को समर्थन देने के लिए प्रोत्साहित करती है ताकि जनसामान्य की क्षमता को बढ़ाया जा सके। अतएव, इसे एक 'सुविधादायक' की भूमिका के रूप में देखा जा सकता है, जहाँ राज्य ऐसे क्षेत्रों में हस्तक्षेप करता है जिनमें बाज़ार प्रभावशाली ढंग से काम नहीं कर सकते।

नियोजन के आरंभिक वर्षों में, चूँकि भारत पूँजी-अभाव से ग्रस्त था और ज्ञात था कि बाज़ार सुगठित नहीं है, अभिकल्पिक की जाने वाली व्यवस्था कुछ उद्योगों में उत्पादन में राज्य की गहरी पैठ तथा अन्य में निजी क्षेत्र के विनियमन का एक संयोजन थी। विनियमन की भूमिका निवेश, उत्पादन एवं निर्यात हेतु वांछित अनुज्ञा-पत्रों के अनुदान द्वारा निभाई जाती थी। विशेष रूप से, उपलब्ध विदेशी मुद्रा, ऋण-आबंटन एवं कुछ मामलों में कीमत भी (जैसे– आवश्यक जिन्सों, कृषि जिन्सों की कीमतें) सरकार द्वारा नियंत्रित किए जाते थे। साथ ही, सरकार ने ऐसे उद्योगों में भी प्रवेश का अधिकार सुरक्षित रखा जो सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुव्यक्त रूप से आरक्षित नहीं थे। सार्वजनिक क्षेत्र को, तद्नुसार, वृहद्, समन्वित निवेश (जिसे अर्थव्यवस्था के तुरंत प्रारंभ हेतु आवश्यक बड़ी सहायता (Big push) के रूप में देखा जाता है)।

परिणामतः, वर्ष 1950 और 1965 के बीच, सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में, सार्वजनिक क्षेत्र का पूँजी-निर्माण दोगुने से भी अधिक अर्थात् 3.1 से बढ़कर 7.5 हो गया। तथापि, बाद के वर्षों में, न सिर्फ योजनाओं की पकड़ कमज़ोर पड़ी, बल्कि

संसाधन संघटन हेतु सार्वजनिक क्षेत्र की क्षमता में भी गंभीर गिरावट देखी गई। सन् 1960 के दशक-मध्य से घटता सार्वजनिक निवेश संवृद्धि मंदन का कारण बना। यह प्रक्रिया 1970 के दशकांत तक चली। इस प्रकार, अर्थव्यवस्था की समादेशन के शिखर की स्थिति से, सार्वजनिक क्षेत्र एक रोज़गार-प्रदायक कल्याणवादी भूमिका वाले अभिकरण में ढलता चला।

2.4.2 बाज़ार की वर्धमान भूमिका (चरण-II)

भारत ने अपने आर्थिक प्रबंधन हेतु बाज़ार की श्रेष्ठता का सिद्धांत अपनाकर अपनी अल्पावधि अदूरदर्शिता से मुक्ति पाने के बाद से एक लम्बा सफ़र तय किया है। इसे 1980 के दशक में प्रारंभिक रूप से अंगीकृत और 1990 के दशक के दौरान प्रबलता से निष्पादित सुधारों के प्रमुख अभिलक्षणों की तुलना द्वारा समझा जा सकता है।

सन् 1980 के दशक में शुरू किए गए सुधारों के प्रमुख लक्षण ये थे : (i) आयात उदारीकरण (विशेषकर पूँजीगत वस्तुओं एवं माध्यमिक आगतों का); (ii) कर प्रणाली एवं ऋण व विदेशी मुद्रा की पर्याप्त सुलभता के माध्यम से निर्यात प्रोत्साहनों का विस्तार; (iii) कुछ उद्योगों के सीधे 'अनुज्ञा-निरस्तीकरण' के ज़रिए और 'चौड़े वितान पटल' (यथा, कुछ उद्योगों में फर्मों को एकसमान उत्पाद-शृंखलाओं में उत्पादन बदल लेने की अनुमति देकर औद्योगिक अनुज्ञापन वांछनीयताओं में महत्त्वपूर्ण छूट; तथा (iv) प्रमुख-माध्यमिक आदानों पर कीमत नियंत्रण की निरस्ति। इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के आलोक में, 1980 के सुधारों का लक्षण-वर्णन अपने अनुस्थापन में 'बाज़ारोन्मुखी' के रूप में किया गया है।

सन् 1990 के दशक के सुधारों में, जो कि 1980 के सुधारों से भिन्न हैं, निम्नलिखित शामिल हैं : (i) औद्योगिक अनुज्ञापन का उन्मूलन एवं सार्वजनिक क्षेत्र एकाधिकारों के कार्यक्षेत्र को उद्योगों की काफ़ी कम संख्या तक सीमित करना; (ii) अंतर्मुखी प्रत्यक्ष विदेशी एवं विदेशी निवेश-सूची निवेश का उदारीकरण; (iii) आयात अनुज्ञापन के निराकरण एवं शुल्केतर अवरोधों में उत्तरोत्तर कमी के साथ व्यापक व्यापार उदारीकरण; (iv) पूँजी विषयों पर (यथा, अर्थव्यवस्था में काम करने देने हेतु विदेशी निजी बैंकों को अनुमति, बीमा क्षेत्र का खुलना) नियंत्रण हटाने समेत वित्तीय क्षेत्र का उदारीकरण; (v) दूरसंचार जैसी सेवाओं में निवेश नीतियों का उदारीकरण; इत्यादि।

आमतौर पर देश वस्तुओं एवं सेवाओं के एक उत्पादक स्वरूप राज्य की भूमिका से किनारा करते जा रहे हैं। राज्य हस्तक्षेप के लाभों के संदर्भ में संशयवाद के उदय हेतु एक प्रमुख कारण यह बढ़ती अवधारणा रही है कि राजनीतिक हस्तक्षेप एवं अधिकार तंत्रीकरण या नौकर-शाहीकरण की वजह से सरकारी विफलताएँ, अनेक मामलों में, बाज़ार विफलताओं से बढ़कर हो सकती हैं। दक्षता में अनुकूल सुधार लाने में प्रोत्साहन पुरस्कार प्रणाली का महत्त्व ज्ञात होने पर, सभी पहलुओं पर विचार करके, यह भली-भाँति स्वीकार किया जाता है कि बाज़ार निजी क्षेत्र द्वारा एक निगमित शैली में निष्पादित किए जाने वाले अनेक आर्थिक क्रियाकलापों के लिए एक बेहतर प्रोत्साहन प्रदान करते हैं। इन सांस्थानिक कारकों से सघनता से जुड़ी यह धारणा भी है कि प्रतिस्पर्धात्मक परिवेश एक बेहतर माहौल पैदा करता है जो दक्षता बढ़ाने में सहायक सिद्ध होता है।

वस्तुओं एवं सेवाओं के एक उत्पादक स्वरूप राज्य की घटती भूमिका और बाज़ार शक्तियों को दी जाने वाली बढ़ती प्रमुखता राज्य की भूमिका 'विनियामक' से 'सहायक'

की अधिक बना देते हैं। एक सामान्य नियम स्वरूप, जहाँ कहीं भी दक्षता हासिल करने में मूल्य संकेत स्पष्ट रूप से कारगर हों, बाज़ारों को मुक्त रूप से काम करने की अनुमति मिलनी ही चाहिए। राज्य निवेश केवल ऐसे क्षेत्रों में आवश्यक हो जाता है जहाँ बाज़ार विद्यमान ही न हों अथवा जहाँ वे कुशलतापूर्वक कार्य-निष्पादन न कर सकते हों।

बोध प्रश्न 1 (दिए गए स्थान में अपने उत्तर लगभग 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) विकास संवृद्धि से किस प्रकार भिन्न है?

.....

.....

.....

.....

2) विकास के प्रति बाज़ार-आधारित दृष्टिकोण को सफल बनाने के लिए कौन-सी मूल अवधारणा सिद्ध होने की अपेक्षा की जाती है?

.....

.....

.....

.....

3) राज्य-निर्देशित विकास रणनीति के पीछे क्या तर्काधार है?

.....

.....

.....

.....

4) 'समावेशी संवृद्धि' रणनीति से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

5) 'धारणीय विकास' (SD) दृष्टिकोण का मूल तत्व क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

6) 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का अर्थ स्पष्ट करें।

.....

.....

.....

.....

7) भारत में नियोजन के आरंभिक वर्षों में सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निभाई गई प्रमुख भूमिका को दर्शाने के लिए आप किस आनुभविक संकेतक का उद्धरण देना चाहेंगे? बाद के वर्षों में इसमें क्या रुझान दिखाई दिया?

.....

.....

.....

.....

8) 'बाज़ारोन्मुखी' दृष्टिकोण के रूप में, विकास दृष्टिकोण में परिवर्तन के लक्षण-वर्णन हेतु 1990 के दशक में लागू किए गए प्रमुख सुधार क्या थे?

.....

.....

.....

.....

2.5 विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण

भारत ने स्वयं को शेष विश्व के साथ किस सीमा तक एकीकृत किया है? क्या 1990 के दशकारंभ में आर्थिक सुधारों की शुरुआत से ही एकीकरण की गति बढ़ गई थी? एकीकरण को परिमाणनीय चरों द्वारा मापा जा सकता है, जैसे सकल घरेलू उत्पाद में व्यापार का अनुपात, औसत शुल्क दर, निर्यात वैविध्य, सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत रूप में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश अंतर्वाह, आदि। इन चरों में रुझानों पर अब हम एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

2.5.1 व्यापार-सकल घरेलू उत्पाद अनुपात

विश्व अर्थव्यवस्था में ऐसे देश जो उच्च रूप से एकीकृत हैं, सकल घरेलू उत्पाद के प्रति व्यापार का एक उच्च अनुपात दर्शाते हैं। एकीकरण की गहनता का एक संकेतक दो 'व्यापार उन्मुखी अनुपातों' (TOR) द्वारा प्रदान किया जाता है; यथा– (i) कुल सकल घरेलू उत्पाद में निर्यात का अंश; तथा (ii) सकल घरेलू उत्पाद में निर्यात एवं आयात का संयुक्त अंश। गत वर्षों में आर्थिक सुधारों ने भारत को एक काफ़ी मुक्त अर्थव्यवस्था बना दिया है। कुल सकल घरेलू उत्पाद में वस्तुओं एवं सेवाओं के भारतीय निर्यात का अंश वर्ष 1991-92 में 6.5 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2013-14 में 19.1 प्रतिशत हो गया। बाज़ार कीमतों पर सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में वस्तुओं के निर्यात एवं आयात का संयुक्त अंश वर्ष 1991-92 में 13.6 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2013-14 में लगभग 46.5 हो गया। इन महत्त्वपूर्ण वृद्धियों के बावजूद,

विश्व व्यापार निर्यात में भारत का अंश वर्ष 1993 में लगभग 0.6 प्रतिशत से किंचित् बढ़कर वर्ष 2014 में 1.7 प्रतिशत ही हो पाया है। इसी प्रकार, विश्व आयात में भारत का अंश भी वर्ष 1993 में लगभग 0.6 प्रतिशत से किंचित बढ़कर वर्ष 2014 में 2.4 प्रतिशत हो गया (तालिका 2.1) था।

तालिका 2.1 : व्यापार में देशों/क्षेत्रों द्वारा निर्यात और आयात (%)

देश	निर्यात अंश		आयात अंश	
	1993	2014	1993	2014
एशिया	26	32	23.5	31.5
चीन	2.5	12.7	2.7	10.5
जापान	9.8	3.7	6.4	4.4
भारत	0.6	1.7	0.6	2.5
छह पूर्व-एशियाई व्यापारी देश	9.6	9.6	10.2	9.4

स्रोत : WHO, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार सांख्यिकी, 2015।

2.5.2 औसत शुल्क दर

शेष विश्व के साथ किसी देश के एकीकरण को मापने हेतु एक अन्य संकेतक देश की औसत शुल्क दर के आकलन के माध्यम से होता है। भारत में सभी उत्पादों के लिए औसत शुल्क दर वर्ष 1990 में 80 प्रतिशत से घटकर वर्ष 2012 में मात्र 6.3 प्रतिशत रह गई।

2.5.3 निर्यात विविधीकरण

वे देश जो विश्व अर्थव्यवस्था में अपेक्षाकृत अधिक एकीकृत हैं, न केवल तीव्र निर्यात वृद्धि का, बल्कि निर्यात वैविध्य का भी अनुभव करते हैं। उदारीकरण के आरंभिक वर्षों में, भारत का निर्यात शीर्ष 20 देशों के साथ कम वैविध्य दर्शाता था और यह भारत के कुल निर्यात के 80 प्रतिशत के समान था। आज (2017), शीर्ष 20 निर्यात गंतव्यों को कुल निर्यात का 67 प्रतिशत का निर्यात होता है। यह वृहत्तर विविधीकरण दर्शाता है।

2.5.4 निर्यातों का उत्पाद संयोजन

एकीकरण का एक अन्य संकेतक यह है कि कोई देश अपने निर्यात में परंपरागत एवं प्राथमिक उत्पादों से निकलकर उच्च-मूल्य-संवर्धित निर्यात में कितना आगे बढ़ा है। यह विनिर्मित निर्यात में प्रौद्योगिकीय रूप से उन्नत वस्तुओं के अंश में प्रकट होता है। भारत के निर्यातों में वस्त्रादि जैसे प्राथमिक उत्पादों से अभियांत्रिकी वस्तुओं, परिष्करणशाला उत्पादों, औषध-निर्माण उत्पादों जैसे अपेक्षाकृत अधिक मूल्य-संवर्धित मदों की दिशा में बड़ा परिवर्तन देखा गया है। तद्नुसार, भारत की निर्यात समुच्चय में अब ग़ैर-परंपरागत मदों की अधिक विविधता दिखाई पड़ती है, जिनमें शामिल हैं– अभियांत्रिकी वस्तुएँ, जो वर्ष 2014-15 में भारत के कुल निर्यात में 23 प्रतिशत के समान रही।

2.5.5 निर्यातों की दिशा

उत्तर-उदारीकरण के दौर में, भारत के निर्यातों में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन रहा– विकसित अर्थव्यवस्थाओं के अंश की तुलना में विकासशील देशों का वर्धमान अंश। वर्ष 1990-91 व 2014-15 के बीच, एशिया का अंश 34 से बढ़कर 49 प्रतिशत हो गया और अफ्रीका का अंश 3 प्रतिशत से बढ़कर 11 प्रतिशत हो गया। दूसरी ओर, यूरोप का अंश इस अवधि में 41 प्रतिशत से गिरकर मात्र 19 प्रतिशत रह गया।

2.5.6 वित्तीय एकीकरण

वे स्तर व गति जिन पर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अंतर्वाह बढ़ता है, वित्तीय एकीकरण के एक महत्त्वपूर्ण संकेतक का काम करते हैं। सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का निवल अंतर्वाह वर्ष 1991 में 0.03 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2016 में 1.96 प्रतिशत हो गया।

बोध प्रश्न 2 (दिए गए स्थान में अपने उत्तर लगभग 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) दो व्यापार उन्मुखी अनुपातों (TORs) के लिहाज़ से, शेष विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था के एकीकरण का क्या अनुमान लगता है?

.....

.....

.....

.....

2) किन अन्य विशिष्ट संदर्भों में भारतीय अर्थव्यवस्था का शेष विश्व के साथ एकीकरण संबंधी ब्यौरा प्रस्तुत किया जा सकता है?

.....

.....

.....

.....

3) किसी अर्थव्यवस्था का वित्तीय एकीकरण कैसे मापा जाता है, इस लिहाज से भारत की क्या स्थिति रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

2.6 सार-संक्षेप

विकास के प्रति दृष्टिकोण राज्य-निर्देशित दृष्टिकोण से बाज़ार-आधारित दृष्टिकोण की ओर अंतरित हुआ है। विकास के आरंभिक चरणों में, प्राथमिक उत्पादों के उत्पादन में

निकृष्ट अवसंरचनात्मक आधार एवं संकेंद्रण की उच्च कोटि के कारण किसी भी विकासशील अर्थव्यवस्था को अपने निवेश हेतु राज्य की सहायता की ज़रूरत होती है। दूसरे शब्दों में, विकास लक्ष्य हासिल करने के लिए बाज़ारों के कीमत संकेतक अपर्याप्त होंगे। इस अभिलक्षण ने अपने विकास के आरंभिक चरणों में एक राज्य-निर्देशित संवृद्धि नीति अपनाने के लिए सामान्यतः सभी प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं को प्रभावित किया है। भारत ने भी वर्ष 1950 से 1990 तक लगभग चार दशकों तक यही प्रयोग करते हुए यह दृष्टिकोण अपनाना शुरू किया। किंतु, अर्थव्यवस्था के विस्तार हेतु वांछित संसाधनों के संघटन हेतु सार्वजनिक क्षेत्र की क्षमता सन् 1960 के दशकांत पश्चात् तेज़ी से गिरती गई। धारणीय विकास संबंधी सरोकार भी भारत में नीति नियोजन में अति महत्त्वपूर्ण हो गए क्योंकि 'समावेशी विकास' पर अभिलक्षित रहना ही उनका उद्देश्य था। परिणामतः, 1990 के दशक में एक नियंत्रित सार्वजनिक क्षेत्र-निर्देशित शासन प्रणाली से एक बाज़ार आधारित दृष्टिकोण तक विकास दृष्टिकोण में परिवर्तन देखा गया। गत दो दशकों में क्रियान्वित नीतियों के कारण वर्ष 1992 में 14 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2014 में 47 प्रतिशत तक 'सकल घरेलू उत्पाद में निर्यात जमा आयात' के अनुपात में प्रशंसनीय वृद्धि देखी गई। इस अतिप्रवण वृद्धि के बावजूद, कुल वैश्विक निर्यात के समग्र अंश के लिहाज से, भारत का अंश किंचित खिसककर वर्ष 2014 में 1.7 प्रतिशत तक ही पहुँच पाया है (1990 के दशकारंभ में 0.6 प्रतिशत से)। इसी प्रकार, भौगोलिक एवं उत्पाद वैविध्य में बढ़ोतरी 'औसत शुल्क दर' में कमी आदि के बावजूद, 'सकल घरेलू उत्पाद में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रतिशत अंतर्वाह' द्वारा मापित वित्तीय एकीकरण के लिहाज से भारत में इसका स्तर वर्ष 2016 में 2 प्रतिशत से भी नीचे रहा।

2.7 शब्दावली

आर्थिक नियोजन : आर्थिक नियोजन वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा केंद्र सरकार मुख्य आर्थिक निर्णय लेती है। यह उस अहस्तक्षेप की नीति के एकदम विपरीत है जो अर्थव्यवस्था को निर्देशित करने के किसी भी प्रयास से परिहार करती है, और आर्थिक क्रमविकास की गति, दिशा एवं प्रकृति निर्धारित करने के लिए बाज़ार शक्तियों पर भरोसा करती है।

प्रत्यक्ष विदेशी निवेश : प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI) एक ऐसा निवेश है जो किसी निवेशकर्ता द्वारा किसी अन्य देश में अवसंरचना, उत्पादन इकाई, आदि वास्तविक सम्पत्ति के रूप में किया जाता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था : इसे एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया जाता है जिसमें एक परस्पर सहअस्तित्व की रीति से सार्वजनिक एवं निजी दोनों ही क्षेत्रों के उद्यमों का मिश्रण पाया जाता है। अधिकांश मामलों में, 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' का अर्थ ऐसी बाज़ार अर्थव्यवस्थाओं से होता है जहाँ बाज़ारों की दक्षतापूर्ण प्रकार्यात्मकता को

सरल बनाने के लिए सार्वजनिक वस्तुओं की आपूर्ति एवं अर्थव्यवस्था के अवसंरचनात्मक आधार को विस्तार प्रदान करने में सशक्त विनियामक पर्यवेक्षण एवं सरकार की विद्यमानता दिखाई देती है।

समावेशी संवृद्धि : समावेशी संवृद्धि वह आर्थिक संवृद्धि है जो जनसमुदाय के सभी संभागों हेतु अवसर पैदा करती है और परिवर्धित समृद्धि के लाभांश (मौद्रिक एवं अमौद्रिक दोनों लिहाज से), समाज के सभी भागों में निष्पक्ष रूप से बाँट देती है।

धारणीय विकास : धारणीय विकास लोगों के लिए वह तरीका है जिससे वे आने वाली पीढ़ियों के लिए संसाधनों को समाप्त किए बिना ही संसाधनों को प्रयोग करना सीख सकें। ब्रंटलैंड कमीशन द्वारा प्रयुक्त पदबंध द्वारा इसे धारणीयता के साथ विकास के रूप में परिभाषित किया गया जो कि 'अपनी ज़रूरतें पूरी करने के लिए भावी पीढ़ियों की क्षमता से समझौता किए बग़ैर ही वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताएँ पूरा कर देता है।'

2.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1) Chakravarty, Sukhamoy (1987). 'Development Strategies in the Asian Countries' In Louis Emmerij (ed.), *Development Policies and the Crisis of the 1980s.* OECD.

2) FICCI (2016). Economy Insights – Trends in India's Foreign Trends, May, 2016.

3) Balakrishnan, P (2010). Economic Growth in India: History and Prospect, Oxford University Press.

4) Basu K. (Ed.) (2008). *The Oxford Companion to Economics in India,* Oxford University Press, USA.

5) Bhattacharya D (1993). *The Political Economy of Development,* Academic Publishers.

6) Perkins D. H., Radelet S., Lindauer D. L., & Steven A (2013). Economics of Development, W.W. Norton and Company, New York.

2.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) संवृद्धि राष्ट्रीय आय अथवा प्रति व्यक्ति आय की भाँति केवल आय में वृद्धि से संबंध रखती है, जबकि विकास आय में वृद्धि के वितरणात्मक आयाम को ध्यान में रखता है। वह साथ ही, प्रसार को इस बात से जोड़ता है कि संवृद्धि के लाभ हाशिए के तबकों तक उनकी शिक्षा एवं स्वास्थ्य संबंधी आवश्यकताओं के लिहाज से कहाँ तक पहुँचा है। यह औद्योगिकीकरण एवं शहरीकरण जैसे पहलुओं को भी साथ लेकर चलता है।

2) इस दृष्टिकोण में यह मानकर चला जाता है कि कीमतों एवं लाभों के संकेतों के साथ सुविकसित प्रतिस्पर्धी बाज़ारों वाली परिस्थितियाँ जन्म लें ताकि वे कुशलतापूर्वक काम कर सकें; यथा, तीव्रतर संवृद्धि की ओर प्रवृत्त करते न्यूनतम संसाधन आगतों के साथ इष्टतम उत्पादन।

3) वह तर्काधार निर्वाह कृषि, कमज़ोर औद्योगिकीकरण, आदि अल्प-विकास की दशाओं में वांछित बड़ी सहायता (बिग पुश) संबंधी है। ऐसी दशाओं में, सार्वजनिक संस्थाओं/उद्यमों को संसाधनों के नियोजित संघटन एवं आबंटन के माध्यम से अर्थव्यवसथा के प्रमुख क्षेत्रों में राज्य-निर्देशित भारी निवेश को ही महत्त्वपूर्ण माना गया।

4) समावेशी संवृद्धि रणनीति का अर्थ है कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिहाज से विमुक्त संवृद्धि लाभ समाज के सबसे निचले तबकों तक इस प्रकार पहुँचें कि समाज के हाशिए पर ये तबके उनसे अछूते न रहें। इसमें संवृद्धि के लाभों का सम्यक वितरण सुनिश्चित करने के लिए संस्थागत प्रबंधों की आवश्यकता होती है, जिन्हें केवल राज्य द्वारा ही सुनिश्चित किए जाने की आवश्यकता पड़ती है।

5) धारणीय विकास (SD) दृष्टिकोण मूल तत्व स्वरूप दो अनिवार्यताएँ रेखांकित करता है– (i) प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से विश्व के गरीब वर्ग का हित रक्षण, जो कि अपेक्षाकृत गरीब तबकों की आजीविका प्रस्थितियों पर प्रभाव डालता है, यथावत् स्पष्ट एवं प्रतिपूर्तित किया जाए; तथा (ii) यथावत् स्पष्ट किए जाने वाले प्राकृतिक संसाधनों का दोहन दुरुत्साहित करने में प्रौद्योगिकी एवं सामाजिक संगठनों की सीमाबद्धताएँ।

6) इस पदबंध का अर्थ है– एक परस्पर संपोषक रीति से बाज़ार के साथ राज्य को जोड़ते हुए सार्वजनिक एवं निजी, दोनों क्षेत्रों का सहअस्तित्व।

7) सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत स्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश वर्ष 1950-65 के दौरान 3.5 प्रतिशत से बढ़कर 7.5 प्रतिशत हो गया। बाद के वर्षों में, संसाधन संघटित करने हेतु सार्वजनिक क्षेत्र की क्षमता इतनी तेज़ी से गिरी कि इसकी भूमिका को 'रोज़गार प्रदायक एवं कल्याणवादी' के रूप में बताया जाने लगा।

8) ये सुधार हैं– (i) औद्योगिक अनुज्ञापन का उन्मूलन; (ii) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश एवं निवेश सूची के अंतर्वाह में उदारीकरण; (iii) आयात अनुज्ञा पत्र के उन्मूलन एवं शुल्केतर अवरोधों में उत्तरोत्तर कमी के साथ व्यापार उदारीकरण; (iv)

वित्तीय क्षेत्र का उदारीकरण, जैसे विदेशी निजी क्षेत्र के बैंक एवं बीमा क्षेत्र खोलने की इज़ाजत; तथा (v) दूर संचार जैसी सेवाओं में निवेश नीतियों का उदारीकरण।

बोध प्रश्न 2

1) कुल सकल घरेलू उत्पाद के प्रति केवल कुल निर्यातों के लिहाज से, प्रतिशत अनुपात वर्ष 1991-92 में 6.5 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2013-14 में 19.1 प्रतिशत हो गया (यथा, लगभग तीन गुना)। कुल सकल घरेलू उत्पाद में 'निर्यात जमा आयात' के संयुक्त अंश के लिहाज से, यह सदृश अवधि में 14 प्रतिशत से बढ़कर 47 प्रतिशत हो गया (यथा, 3.4 गुना)। इस वृद्धि के बावजूद, वैश्विक निर्यात में भारत का अंश 0.6 प्रतिशत से बढ़कर मात्र 1.7 प्रतिशत ही हुआ है (यथा, यद्यपि वृद्धि एक बार फिर 3 गुना के करीब हुई, औसत भी बहुत तुच्छ है)।

2) औसत शुल्क दर के लिहाज़ से, वर्ष 1990 में 80 प्रतिशत से वर्ष 2012 में 6.3 प्रतिशत तक की भारी गिरावट देखी गई। शीर्ष 20 देशों को निर्यातों के प्रतिशत द्वारा परिभाषित उत्पाद वैविध्य के लिहाज से औसत 80 प्रतिशत से गिरकर 67 प्रतिशत रह गया हैं वर्ष 2014-15 में, कुल निर्यातों में अभियांत्रिकी निर्यातों का अंश बढ़कर 23 प्रतिशत हो गया।

3) वित्तीय एकीकरण सकल घरेलू उत्पाद में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के अंतर्वाह में प्रतिशत वृद्धि के लिहाज़ से मापा जाता है। भारत के लिए, यह वर्ष 1991 में 0.03 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2016 में 1.96 प्रतिशत हो गया है।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 3 संरचनात्मक परिवर्तन*

संरचना

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 भारत की राष्ट्रीय आय में संवृद्धि

3.2.1 1950-1980 की अवधि

3.2.2 1980 के दशक से आगे की अवधि

3.3 क्षेत्रीय संवृद्धि / परिवर्तन

3.3.1 बचत

3.3.2 निवेश

3.3.3 रोज़गार

3.3.4 शहरीकरण

3.4 भारत में क्षेत्रीय विषमताएँ

3.4.1 क्षेत्रीय विषमाताओं का विस्तार एवं कारण

3.5 वर्धमान पूँजी-उत्पादन अनुपात (ICOR)

3.6 सार-संक्षेप

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि :

- 'संरचनात्मक परिवर्तन' की परिभाषा कर सकें;
- भारत की राष्ट्रीय आय में संवृद्धि का विश्लेषण कर सकें;
- अर्थव्यवस्था के तीन प्रमुख क्षेत्रों के बीच सकल घरेलू उत्पाद के संरचनात्मक संघटन में रुझानों पर चर्चा कर सकें;
- बचत और निवेश में बदलते रुझानों को इंगित कर सकें;
- रोज़गार के क्षेत्रीय वितरण में रुझानों पर चर्चा कर सकें;
- भारत में संरचनात्मक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप शहरीकरण का विस्तार बता सकें;
- भारत में क्षेत्रीय विषमताओं का विस्तार व उसके कारण स्पष्ट कर सकें; और
- 'वर्धमान पूँजी उत्पादन अनुपात' की अवधारणा का वर्णन कर सकें।

*डॉ. असीम करमाकर, जादवपुर विश्वविद्यालय एवं प्रो. बी.एस. प्रकाश, इं.गां.रा.मु.वि.

3.1 विषय प्रवेश

आर्थिक विकास ऐतिहासिक रूप से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में 'संरचनात्मक परिवर्तनों' से जुड़ा रहा है। संरचनात्मक परिवर्तन को प्रायः एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है जिसके द्वारा आर्थिक लाभों का हस्तांतरण अर्थव्यवस्था में आय एवं रोज़गार के सापेक्ष क्षेत्रीय वितरणों में प्रमुख परिवर्तनों के रूप में परिभाषित किया जाता है। सर्वाधिक सामान्य संरचनात्मक परिवर्तन जो कि ऐतिहासिक रूप से देखा जाता है, अर्थव्यवस्था के तीन प्रमुख क्षेत्रों– कृषि, उद्योग एवं सेवा क्षेत्रों में आय एवं रोज़गार के संबंध में है। इसके आलोक में, कोई भी अर्थव्यवस्था जिसमें आय एवं रोज़गार में कृषि की प्रधानता हो, उसे 'अल्प-विकसित' कहा जाता है। किंतु, इसके अपवाद उस वक्त देखे जा सकते हैं जब कोई अर्थव्यवस्था अपने प्राथमिक क्षेत्र के क्रियाकलाप कृषि से 'सहबद्ध कृषि' (जिसमें पशु-पालन शामिल है) की ओर विस्तारित कर देती है। ऐसी अर्थव्यवस्थाएँ एक विकसित प्रस्थिति प्राप्त करने में सक्षम रही हैं (उदाहरणार्थ, न्यूज़ीलैंड, अर्जेंटीना आदि)। सकल घरेलू उत्पाद में उनका कृषि संबंधी अंश, बहरहाल, कालांतर में संकुचित हुआ, जो यह इंगित करता है कि उनकी संक्रियाएँ उद्योगों का रूप लेकर आधुनिकीकृत हो गई हैं। इसलिए महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण, औद्योगीकरण है, यानि क्रियाकलाप करने की एक सुव्यवस्थित विधि, खेती-बाड़ी में परंपरागत कृषि छोड़कर आधुनिक कृषि व्यवहार अपनाना, और आगे ग़ैर-फार्म उद्योगों की ओर अग्रसर होना (सर्वप्रथम, कृषि आधारित उद्योगों से आरंभ करना और फिर ग़ैर-कृषि उद्योगों की ओर जाना)। ऐसे विकास के साथ (जब परंपरागत कृषि-आधार से आधुनिक कृषि-आधार की ओर संक्रमण होता है), कालांतर में, इन अर्थव्यवस्थाओं में उद्योग का अंश बढ़ा है और कृषि का अंश घटा है। विकास के एक और भी बेहतर रूप से उच्च स्तर पर पहुँच कर सेवा क्षेत्र अर्थव्यवस्था में उत्कर्ष के बिंदु पर पहुंच जाता है। इस प्रकार के संक्रमण में, कोई भी परिणामी आर्थिक परिवर्तन एक ऐसा परिवर्तन होता है जिसमें पूर्ववर्ती ग्रामीण-शहरी अनुपात एक वृहत्तर शहरी-ग्रामीण आर्थिक परिदृश्य में बदल जाता है। इसी को 'शहरीकरण' कहा जाता है। यह प्रतिमान सामान्य तौर पर विकास के विभिन्न स्तरों वाले अनेक देशों में दिखाई दे जाता है। आमतौर पर, परिवर्तनशील क्षेत्रीय अंशों वाले संरचनात्मक बदलाव राष्ट्रीय उत्पाद (यथा, GDP अथवा आय) तथा श्रमबल (रोज़गार) दोनों में देखे जाते हैं। सामने आने वाला परिणाम एक वृहद् अनौपचारिक आधार से एक औपचारिक आधार वाला अर्थव्यवस्था का वर्धित विधानुसरण होता है।

भारत में, आर्थिक सुधारों के आरंभ और 1990 के दशक से संवृद्धि दर में त्वरण होने से ही, अर्थव्यवस्था ने कुछ भिन्न संवृद्धि प्रतिमान अपनाया है, जिसमें स्वयं उद्योग का अंश अधिक नहीं बढ़ा है परंतु सेवाओं का अंश व्यापक रूप से बढ़ा है। यह, प्रथम दृष्ट्या ही उस प्रतिमान से भिन्न नज़र आता है। जो कि पूर्ववर्ती और अभी हाल ही में विकसित हुए देशों की विकास प्रक्रिया में देखा गया था। इस प्रकार के संवृद्धि प्रतिमान का ध्यानपूर्वक विश्लेषण किए जाने की आवश्यकता होती है।

3.2 भारत की राष्ट्रीय आय में संवृद्धि

स्वातंत्र्योत्तर भारत में, राष्ट्रीय आय आकलन विषयक प्रथम रिपोर्ट वर्ष 1951 में प्रकाशित हुई। यह रिपोर्ट प्रो. पी.सी. महालेनोबिस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय (NI) की एक समिति द्वारा तैयार की गई, जिसमें दो अन्य सदस्य थे– प्रो. डी.आर.

गाडगिल तथा डॉ. वी.के.आर.वी.राव। वर्ष 1948-49 हेतु कुल आकलित राष्ट्रीय आय रु. 8,830 करोड़ लिखी गई। इसके उपरांत इस आय (NI) के आंकड़े संकलित कर वार्षिक रूप से प्रकाशित किए गए हैं। यह ध्यान देने की बात है कि ये (NI) अनुमान पहले तो 'चालू कीमतों' में आकलित किए जाते हैं परंतु जब अल्पकालिक तुलनाएँ की जानी होती हैं तो इन्हें एक 'स्थिर कीमत' में बदल दिया जाना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार की परिवर्तन प्रक्रिया तुलना की अवधि में कीमतों में परिवर्तन के प्रभाव का निराकण किए जाने के लिए वांछित होती है। इस आय (NI) के अनुमान आजकल 'राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी' नामक एक वार्षिक पत्रिका में चालू और स्थिर दोनों ही कीमत श्रृंखलाओं में प्रस्तुत किए जाते हैं। स्थिर कीमत श्रृंखला के तहत इन (NI) अनुमानों को प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त आधार वर्ष का बारंबार अद्यतन किया जाता है, (अर्थात् एक बाद के वर्ष वाले आधार वर्ष में स्थानांतरित कर दिया जाता है) ताकि वे उत्पादन पिटक एवं कीमतों के सम्मिश्रण में ताज़ा परिवर्तनों के अनुरूप रहें। किसी स्थिर आधार पर आकलित इस आय (NI) में संवृद्धि दर अर्थव्यवस्था के कार्य-निष्पादन के मूल्यांकन को संभव भी बना देती है और वास्तविक भी।

3.2.1 1951-1980 की अवधि

भारत में अपनाए गए नियोजित विकास कार्यक्रमों के अंतर्गत एक प्रथा रही है, उपलब्धि का लक्ष्य निर्धारित करना और फिर निर्धारित लक्ष्य की तुलना में वास्तविक उपलब्धि का मूल्यांकन करना। इस हिसाब के परिणाम तालिका 3.1 में प्रस्तुत किए गए हैं। हम वर्ष 1951 से 1979 की तीन दशकावधियों में, केवल दो योजना अवधियों में (यथा, प्रथम एवं पाँचवीं योजना अवधियों में) ही इन निर्धारित लक्ष्य पूरा कर सके थे। इस अवधि को, इसीलिए, ऐसी अवधि कहा जा सकता है जिसमें भारत ने एक सामान्य सी संवृद्धि दर हासिल की। निर्धारित लक्ष्य की तुलना उपलब्धि के कम रह जाने के दो मुख्य कारण रहे– (i) वर्ष 1962, 1965 और 1971 में लड़े गए पड़ोसी देशों के साथ तीन युद्ध; तथा (ii) वर्ष 1966, 1972 और 1979 के दौरान तीन बार भयंकर सूखा। इन तीन में से प्रथम दो ने अनुमानित 5 करोड़ जनसंख्या को प्रभावित किया जबकि तीसरे ने अनुमानित 20 करोड़ लोगों को प्रभावित किया। इस प्रकार की आपाती घटनाओं ने देश की आर्थिक कार्य-निष्पत्ति पर कुठाराघात किया, जिससे भारत की राष्ट्रीय आय में दीर्घावधि औसत वृद्धि 3.5 प्रतिशत के आस-पास ही मँडराती रही, जिसे कुछ अर्थ संबंधी लेखों व पुस्तकों में संवृद्धि की 'हिंदू दर' की संज्ञा दी गई थी। इसके आलोक में, इस अवरोध को तोड़कर पाँचवीं योजना अवधि में 5 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर को छू लेना वास्तव में, भारत में आर्थिक निष्पत्ति में एक मील का पत्थर है, जो कि इस तथ्य के बावजूद है कि वर्ष 1979-80 ने एक नकारात्मक वृद्धि दर दर्ज़ की थी। वास्तव में, व्यापक अनावृष्टि के लिए जाने-माने तीन वर्षों के अलावा, वर्ष 1969 व 1970 भी अनावृष्टि वर्ष के ही रहे थे क्योंकि प्रत्येक में अनुमानित 1.5 करोड़ लोग प्रभावित हुए थे।

तालिका 3.1 : विभिन्न योजना अवधियों में भारत की राष्ट्रीय आय में संवृद्धि (%)

योजना	अवधि	लक्ष्य	उपलब्धि
पहली योजना	1951-56	2.1	4.6
दूसरी योजना	1956-61	4.5	4.1

तीसरी योजना	1961-66	5.6	3.3
चौथी योजना	1969-74	5.7	3.0
पाँचवीं योजना	1974-79	4.4	5.0
छठी योजना	1980-85	5.2	5.3
सातवीं योजना	1985-90	5.0	5.8
आठवीं योजना	1992-97	5.6	6.5
नौवीं योजना	1997-2002	6.5	5.4
दसवीं योजना	2002-07	8.0	7.6
ग्यारहवीं योजना	2007-12	9.0	7.5
बारहवीं योजना	2012-17	–	6.7*

स्रोत : योजना आयोग एवं आर्थिक सर्वेक्षण, 2015-16. संवृद्धि दरें (GRs) वर्ष 2004-05 (आधार वर्ष) कीमतों के अनुसार आकलित की गई हैं। *12वीं योजना हेतु आँकड़े 2011-12 की कीमतों पर हैं।

3.2.2 1980 के दशक से आगे की अवधि

1980 के दशक में, भारत ने राष्ट्रीय आय में 1960 और 1970 के दशकों के दौरान रही निम्न वृद्धि दर के मुकाबले त्वरित वृद्धि दर देखी गई। 1980 के दशक की छठी व सातवीं दोनों ही योजना अवधियों के दौरान, साथ ही अगली आठवीं योजना में भी, राष्ट्रीय आय में संवृद्धि दरें लक्षित संवृद्धि दरों से ऊँची ही रहीं। तथापि, आगामी तीन योजना अवधियों, नौवीं, दसवीं और ग्यारहवीं योजना अवधियों के दौरान लक्षित संवृद्धि दरों के संदर्भ में दर्ज़ राष्ट्रीय आय की संवृद्धि दरों में पुनः गिरावट देखी गई। कार्य-प्रदर्शन में इस गिरावट के लिए दो प्रमुख कारण पहचाने गए– (i) वर्ष 1997 के पूर्व एशियाई संकट के पश्चात् एक वैश्विक व्यापार मंदी; और (ii) खराब मानसून और शुरू किए गए सुधारों की गति में तेज़ी का अभाव।

बहरहाल, जबकि यह किंचित् भी स्पष्ट नहीं था कि विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था का एकीकरण भारत की व्यापार मंदी के लिए किस प्रकार ज़िम्मेदार था (चूँकि भारत ने वर्ष 1991 में ही अपनी अर्थव्यवस्था को उदार बनाया था और यह किंचित् परिवर्तित उदारीकरण की नीति अपना रहा था), नीति अस्थिरता में योगकारी घरेलू कारकों का उल्लेख अनदेखा नहीं किया जा सकता। जहाँ तक कि एक अनुकूल निवेश परिवेश हेतु वांछित सही नीति संकेत देने के लिए एक स्थिर सरकार होने का सवाल है, 1990 के दशकांत से ही गठबंधन सरकारों का क्रम आरंभ हो गया था, जिनमें से कई तो कुछ महीने ही टिकीं। वर्ष 1999 के अंत में ही एक किंचित् स्थिर सरकार सत्ता में आ सकी और अपने कार्यकाल (1999-2004) के दौरान सतत् सुधारों में एक बार फिर से स्थिरता का समावेश करा सकी। चूंकि इसके कुछ परिणाम सिद्ध होने के लिए नीति-निर्णयों के बाद कुछ समय विलंब के साथ सामने आने लगे थे, वर्ष 2004-09 के दौरान आपेक्षिक स्थिरता की एक 5 वर्षीय अवधि के पश्चात् राजनीतिक वातावरण में अस्थिरता का एक दूसरा दौर अभिभावी हो गया (2009-2014 तक)। यह अवधि (2009-14) अनेक घोटालों के लिए चर्चा में रही, जो कि धन की बड़ी-बड़ी राशियाँ अनुत्पादक कार्यों में लगाए जाने की ओर संकेत करता है। अतः, यह कहना ठीक ही होगा कि राजनीतिक अस्थिरता अथवा अनिश्चितता की

अवधियों ने भी 1990 के दशकांत में राष्ट्रीय आय की संवृद्धि में उपलब्धि के अभाव को बढ़ाने में योगदान किया, जो कि अगली शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

वर्ष 2011-12 से आगे के आँकड़े आधार वर्ष 2011-12 वाली नई शृंखला से उपलब्ध हैं। बारहवीं योजना के आँकड़ों को भी विचारार्थ रखने पर, भारत की राष्ट्रीय आय में औसत दीर्घावधि संवृद्धि दरें, जो कि तीन प्रमुख चरणों में विभाजित हैं, उल्लेखनीय हैं– चरण-I, 1951-1979, 4 प्रतिशत; चरण-II, 1980-1997, 6 प्रतिशत; और 1997-2017, 7 प्रतिशत। इसी वजह से भारत को विश्व में एक सबसे तेज़ी से बढ़ने वाली उदीयमान बाज़ार अर्थव्यवस्था के रूप में देखा जाने लगा है, हालाँकि, यह रुझान 1990 के दशकांत में भी प्रत्यक्ष हो चला था।

बोध प्रश्न 1 (दिए गए स्थान में अपने उत्तर लगभग 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) 'संरचनात्मक परिवर्तन' के आवश्यक घटकों के रूप में किन बातों को पहचानेंगे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या आप मानते हैं कि प्रधानतः कृषि आधारित अर्थव्यवस्था, अनिवार्यतः एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था होती है? अपने उत्तर के लिए कारण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) चालू कीमतों में मापी गई राष्ट्रीय आय के आकलन स्थिर कीमतों में रूपांतरित किए जाने क्यों आवश्यक होते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

4) वर्ष 1951-80 की अवधि में राष्ट्रीय आय में लक्षित वृद्धि दरें हासिल करने में भारत क्यों विफल रहा?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

5) 1990 के दशकांत में भारत में राष्ट्रीय आय में ह्रास होने और संवृद्धि के लक्षित संवृद्धि दरों से कम होने के कौन-से दो प्रमुख कारक माने गए हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

6) क्या आप मानते हैं कि 1990 के दशकांत में आर्थिक मंदी की अवधि पूरी तरह प्रश्न 5 में पहचाने गए दो कारकों के कारण ही थी?

.....

.....

.....

.....

.....

7) क्या आप मानते हैं कि भारत एक तेज़ी से वृद्धि करती उदीयमान अर्थव्यवस्था के रूप में उभरने में सफल रहा है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.3 क्षेत्रीय संवृद्धि/परिवर्तन

साइमन कुज़नेट्स (1966) ने सर्वप्रथम दर्शाया कि संवृद्धि के वास्तविक प्रभाव क्षेत्रीय संयोजनों में परिवर्तनों द्वारा प्रकट होते हैं, यथा, माँग एवं आपूर्ति दोनों ही कारणों से कृषि, उद्योग एवं सेवा क्षेत्रों में एक छोर से दूसरे छोर तक। फ़िशर (1939) और क्लर्क (1940) ने इसी विचारक्रम का प्रतिपादन किया था। भारत के लिए राष्ट्रीय आय/सकल घरेलू उत्पाद की परिवर्तनशील अंतर्क्षेत्रीय रूपरेखा नीचे (तालिका 3.2 में) प्रस्तुत की गई है। इन आँकड़ों से स्पष्ट होने वाले महत्त्वपूर्ण रुझान निम्नलिखित हैं :

तालिका 3.2 : सकल घरेलू उत्पाद (%) का अंतर्क्षेत्रीय संयोजन

वर्ष	कृषि	उद्योग	सेवाएँ
1950-51	53.1	16.6	30.3
1960-61	48.7	20.5	30.8
1970-71	42.3	24.0	33.8
1980-81	36.1	25.9	38.0
1990-91	29.6	27.7	42.7
2000-01	22.3	27.3	50.4
2010-11	14.5	27.8	57.7
2011-12	13.9	27.0	59.0

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण (आधार 2004.05)

सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का अंश : सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का अंश वर्ष 1950-51 में 53 प्रतिशत से घटकर वर्ष 2012 में मात्र 14 प्रतिशत रह गया। वास्तविक ह्रास विगत 60+ वर्ष की समयावधि में लगभग 39 प्रतिशत रहा। कृषि क्षेत्र का गिरता अंश किसी भी विकासमान अर्थव्यवस्था के विकास-पथ के साथ संगत होता है। तथापि, कृषि एवं संबद्ध कार्यों में सापेक्ष उच्च रोज़गार अंश की सतत् प्रधानता की दृष्टि से (वर्ष 2011-12 में 48.9 प्रतिशत), कृषिगत संवृद्धि स्वयं ही नौकरियों, आय और खाद्य सुरक्षा हेतु निरंतर अत्यावश्यक बनी रही है। इसके अलावा, कृषि-खाद्य उद्योगों के लिए कृषि-क्षेत्र कच्चे माल की आपूर्ति का प्रमुख स्रोत बना ही हुआ है।

सकल घरेलू उत्पाद में उद्योग का अंश : सकल घरेलू उत्पाद में उद्योग का अंश वर्ष 1950-51 में 17 प्रतिशत से वर्ष 2012 में 27 प्रतिशत तक बढ़ा। उद्योग की यह अंश वृद्धि तद्नुसार, 60+ वर्ष की अवधि में केवल 10 प्रतिशत ही रही। इसका अर्थ है कि राष्ट्रीय आय में कृषि के अंश में गिरावट से उद्योग को मिला 'लाभ' एक-तिहाई से भी कम रहा। (चूँकि $10 \times 3 = 30$, जो कि कुल कृषि क्षेत्र की गिरावट 39 प्रतिशत) से काफ़ी कम है।

सेवा क्षेत्र का उत्कर्ष : विगत छह दशकों में भारतीय अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन का सर्वाधिक विस्मयकारी लक्षण सेवा क्षेत्र का उत्कर्ष ही रहा है (सकल घरेलू उत्पाद में वर्ष 1951 में अपने 30 प्रतिशत अंश से वर्ष 2012 में 59 प्रतिशत)। विस्तार की यह गति मुख्यतः संचार, बैंकिंग व बीमा जैसे सेवाक्षेत्र घटकों की वृद्धि के कारण बढ़ी। सेवा क्षेत्र की तीव्र वृद्धि हेतु उत्तरदायी कारक ये हैं– (i) आर्थिक संवृद्धि और औद्योगिक विकास के साथ, परिवहन, संचार, विद्युत्, भंडारण, वित्त आदि सेवाओं हेतु माँग बहुत तेज़ी से बढ़ी है, जिसने सेवाओं के विस्तार अर्थात् तृतीयक क्षेत्र की ओर प्रवृत्त किया है; (ii) सूचना प्रौद्योगिकी सेवाओं का तीव्र विकास संचार क्षेत्र हेतु विस्तार का एक विशाल स्रोत सिद्ध हुआ है; (iii) रक्षा, नागरिक प्रशासन, आर्थिक एवं सामाजिक सेवाओं (जैसे स्वास्थ्य व शिक्षा) ने भी सेवा क्षेत्र के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है; तथा (iv) वृहद् मध्यम वर्ग की प्रयोज्य आय में वृद्धि के कारण होटल-रेस्तरां, पर्यटन-परिवहन, संचार आदि सेवाओं हेतु माँग बढ़ी है।

इस प्रकार, विनिर्माण जिसे ऐतिहासिक रूप से संवृद्धि के प्रमुख सहयोगी के रूप में देखा जाता है (कम से कम आर्थिक विकास की आरंभिक अवधि में तो अवश्य ही), ने भारत में एक लघु भूमिका ही निभाई है। सकल घरेलू उत्पाद में उद्योगों का अंश वर्ष 1991 से (वर्ष 2004-05 के मूल्यों पर) 27 प्रतिशत के आस-पास ही स्थिर रहा है। दूसरे शब्दों में, अन्य विकसित देशों से भिन्न, भारत औद्योगिक विकास को दरकिनार करता हुआ, एक 'उद्योगेतर' 'सेवा अर्थव्यवस्था' बन गया है। इस प्रकार के रुझान के दो कारण बताए जाते हैं– (i) संचार प्रौद्योगिकियों का विकास, जिसने तमाम देशों के लोगों का आवागमन सुचारू कर कार्य-कुशल कर्मियों हेतु माँग पैदा की है; और (ii) विकसित देशों द्वारा प्रदर्शन प्रभाव, जिसने भारत को माँग प्रतिमान में सेवाओं की ओर प्रवृत्त किया। अभी कुछ समय पूर्व, 2018-19 में जीडीपी में उद्योग का अंश कुछ बढ़कर 30 प्रतिशत के निकट (29.6%) हो गया है।

तालिका 3.2(क): क्षेत्रवार (%) जीडीपी अंश : 2013-19 (आधार 2011-12)

वर्ष	कृषि	उद्योग	सेवाएँ
2013-14	20.7	28.3	51.1
2016-17	18.2	28.4	53.3
2018-19	16.1	29.6	54.3

स्रोत : आर्थिक समीक्षा, 2019-20 खंड-2, तालिका 1.3 ख, 0-7 पृ.33

3.3.1 बचत

रोज़गार सृजन निवेश पर निर्भर करता है– सरकारी भी और निजी भी। इसके लिए बचत आवश्यक है। रोज़गार सृजन निजी एवं सार्वजनिक निवेशों पर निर्भर करता है। इसके लिए बचतों का बहुत महत्त्व होता है। राष्ट्रीय सांख्यिकी संगठन (NSO) अर्थव्यवस्था के तीन प्रमुख क्षेत्रों (परिवार, निजी निगम क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र) की बचतों के आँकड़े प्रकाशित करता है। पिछले कुछ समय की बचतों की प्रवृत्तियाँ सकल घरेलू बचतों में निरंतर गिरावट दिखा रही है (तालिका 3.3)।

तालिका 3.3 : जीडीपी के प्रतिशत अंश के रूप में घरेलू बचतें (2011-12 श्रृंखला)

क्षेत्र	2011-12	2014-15	2017-18
परिवार	23.6	19.6	17.2
निजी निगमित	9.5	11.7	11.6
सार्वजनिक	1.5	1.0	1.7
योगफल	**34.6**	**32.3**	**30.5**

स्रोत : आर्थिक समीक्षा, 2019-20 खंड-2, सांख्यिकी परिशिष्ट, ता. 1.9 पृ.30

3.3.2 निवेश

देश में तीन सांस्थानिक क्षेत्र हैं जो बचत और निवेश करते हैं। ये हैं– कुटुंब या परिवार, निजी निगमित क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र। सार्वजनिक क्षेत्र में आते हैं : सरकार और सार्वजनिक निगम। वर्ष 1991-2004 की अवधि में निवेश की संयोजित

दर (निवेश और सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात) औसतन 24.5 प्रतिशत रही। यह वर्ष 2004-05 में 30 प्रतिशत तथा अगले आठ वर्षों, यथा 2005-2013 में औसतन 35.4 प्रतिशत तक पहुँच गई। घरेलू बचत और कुल निवेश के बीच का अंतर प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, विदेशों से प्राप्त अंतरण, आदि अन्य स्रोतों से पाटा जाता है। चूँकि घरेलू बचत में रुझान ह्रासोन्मुखी है और निवेश में रुझान ऊर्ध्वमुखी, इससे ज्ञात होता है कि हाल के वर्षों में बाहर से पूँजी का अंतर्वाह बढ़ रहा है। घरेलू बचत के तीन घटकों के बीच, सार्वजनिक क्षेत्र की बचत में लगातार गिरावट देखी गई है। उदाहरण के लिए, सार्वजनिक क्षेत्र की बचत 1980 के दशकारंभ में 4.5 प्रतिशत के आसपास ही रही, परंतु यह वर्ष 2015 में मात्र 1 प्रतिशत तक आ गिरी। अतः बचत और निवेश का अधिकांश भाग, कुटुंब एवं निजी निगमित क्षेत्रों से ही रहा है, जिनमें विदेशी प्राप्तियों और प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का भाग एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस भाग के अलावा, उक्त तीन घटकों के बीच (वर्षों के दौरान कुछ भिन्नताओं के साथ), कुटुंब क्षेत्र लगभग 45 प्रतिशत और निगमित क्षेत्र लगभग 35 प्रतिशत का लेखा-जोखा देता है। शेष 20 प्रतिशत ही सरकारी/सार्वजनिक क्षेत्र से आता है।

3.3.3 रोज़गार

जैसा कि आरंभ में कहा गया है, संरचनात्मक परिवर्तन का अर्थ है, रोज़गार व आय के आपेक्षिक अंशों में व्यापक परिवर्तन, जहाँ संवृद्धि के लाभ समाज के निम्न पायदानों पर स्थित लोगों को तक पहुंच पाते हैं। यह कृषि से उद्योग की ओर व्यावसायिक विचलन की ओर भी संकेत करता है। इस प्रकार का विचलन दीर्घावधि समय क्षितिज पर परिणत होता है। जिसके लिए हमें आदर्श रूप से दीर्घतम उपलब्ध समय-शृंखला को लेना चाहिए। इसके होते हुए भी, प्रस्तुत पाठांश के प्रयोजनार्थ, सर्वप्रथम उत्तर 1991 रोज़गार परिदृश्य पर दृष्टिपात करना और फिर इसकी तुलना पूर्वावधि (यथा, 1951-2000) के रोज़गार परिदृश्य से करना व्याख्यात्मक होगा। इससे न सिर्फ़ सुधारोत्तर परिदृश्य सामने आएगा बल्कि लगभग आठ योजना अवधियों में विस्तीर्ण उदारीकरण पूर्व दशकों में किए गए विभिन्न प्रयासों का कुल योग भी पता लगेगा।

तालिका 3.4 : कुल रोज़गार में प्रमुख क्षेत्रों का अंश (प्रतिशत)

क्षेत्र	1999–2000	2004–05	2011–12	विचलन	2018–19
कृषि व संबद्ध	59.9	58.5	48.9	–11	43.2
उद्योग	16.4	18.2	24.3	+8	24.9
सेवा	23.7	23.3	26.9	+3	31.9

स्रोत : रंगाराजन व अन्य, 2014

तालिका 3.5 : रोज़गार का संयोजन (प्रतिशत)

क्षेत्र	1993–1994	1999–2000	2004–05	2009–10	विचलन
कृषि व संबद्ध	78.4	76.2	72.6	67.9	–10.5
ग़ैर-कृषि	21.6	23.8	27.4	32.1	+10.5

स्रोत : पपोला व साहु, 2012

सामान्य रूप से रोज़गार का बदलता संयोजन और विशिष्ट रूप से ग्रामीण ग़ैर-कृषि रोज़गर का बदलता संयोजन वर्ष 2000-2012 के दौरान एक महत्त्वपूर्ण (11 प्रतिशत) विचलन दर्शाते हैं (तालिका 3.4)। उद्योग एवं सेवा क्षेत्र के बीच इस विचलन का वितरण क्रमशः 8 प्रतिशत व 3 प्रतिशत है। यह दर्शाता है कि प्रत्याशा के विपरीत उत्तर 2000 वर्षों में उद्योग द्वारा श्रम का समावेशन सेवा क्षेत्र से अपेक्षाकृत अधिक रहा है। यह ध्यान देने की बात है कि यहाँ हम समस्त भारत की तस्वीर देख रहे हैं (यथा, कुशल व अकुशल कार्यबल का मिश्रण), जबकि यदि हम 'केवल शिक्षित कार्यबल' की विशिष्ट तस्वीर ही देखें तो तस्वीर भिन्न हो सकती है। वर्ष 1951 के आँकड़ों के अनुसार, कुल 14.3 करोड़ श्रमिकों में से 10 करोड़ कृषि में लगे थे लगभग 70 प्रतिशत था। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण रूप से ध्यान देने की बात है कि कृषि में लगे श्रमिकों का प्रतिशत 1951-2000 के 50 वर्ष की अवधि में मात्र 10 प्रतिशत ही घटा था। अतः, 2000 पश्चात् के 12 वर्षों के दौरान, इस लिहाज से 11 प्रतिशत की गिरावट इस निष्कर्ष का समर्थन करती है कि उत्तर-2000 वर्षों में, ग़ैर-कृषि क्षेत्र में इस संरचनात्मक परिवर्तन के विस्तार में एक तीक्ष्ण उठान देखा गया। इसी प्रकार, ग्रामीण क्षेत्रों में ग़ैर-कृषि रोज़गार की दिशा में परिवर्तन हुए। वर्ष 1993-2010 के दौरान इस प्रकार का परिवर्तन 10.5 प्रतिशत रहा (तालिका 3.5)। फिर भी, यहाँ दो बातों पर ध्यान देना महत्त्वपूर्ण होगा : (i) वर्ष 1951-2000 के दौरान हासिल कृषिगत रोज़गार में 10 प्रतिशत गिरावट वर्ष 2000-2012 के दौरान हुई गिरावट के मुकाबले कहीं अधिक कठिन दौर से गुज़र कर हुई; और (ii) तालिका 3.4 और 3.5 में प्रतिशतता के हर भिन्न-भिन्न है (यथा, तालिका 3.4 में यह ग्रामीण + शहरी कार्यबल है और तालिका 3.5 में यह केवल ग्रामीण कार्यबल है)। फिर भी, इन भिन्नताओं को एक साथ लिए जाने पर, वर्ष 1951-2012 की संयुक्त अवधि में कार्यबल के विचलन में संरचनात्मक परिवर्तन, 70 प्रतिशत से 49 प्रतिशत (यथा, 21 प्रतिशत ह्रास) महत्त्वपूर्ण है। कार्यबल में कृषि का अंश 2019 में और घटकर 43 प्रतिशत के लगभग रह गया है। सन् 2000 से कृषिक श्रम बल में यह गिरावट 17 प्रतिशतांकों (-16.7%) के निकट है।

3.3.4 शहरीकरण

इस इकाई की प्रस्तावना में, हमने आगामी वर्षों में प्रत्याशित त्वरित शहरीकरण प्रक्रिया द्वारा अर्थव्यवस्था के ग्रामीण से शहरी अंश में संभावित परिवर्तन की चर्चा की थी। दशकों तक चले कायांतरण के परिणामस्वरूप, ग्रामीण से शहरी जनसंख्या का वितरण वर्ष 1961-2011 की 5 दशकीय अवधि में 13 प्रतिशत बिंदु तक बदला है (तालिका 3.6)। ग्रामीण जनसंख्या का प्रतिशत 82 से 69 प्रतिशत तक (13 प्रतिशत बिंदु तक) घटा है। इसके सदृश शहरी जनसंख्या में 13 प्रतिशत बिंदु की वृद्धि 7.5 व 5.7 प्रतिशत बिंदुओं द्वारा सुधार-पूर्व (1961-1991) तथा सुधारोत्तर (1991-2011) अवधियों के बीच वितरित है। अनुपात 7.5 : 5.7 वर्ष 1961-91 के तीन सुधार-पूर्व दशकों के लिए 2.5 और वर्ष 1991-2011 के दो सुधारोत्तर दशकों के लिए 2.85 का प्रति-दशक-औसत दर्शाता है। इसके अनुसार, सुधारोत्तर वर्षों में शहरीकरण की गति अपेक्षाकृत तीव्र रही है। दूसरे शब्दों में, उत्तर-उदारीकरण अवधि में सुधारों की गति तेज़ हुई है जो कि इस संकल्पना का समर्थन करती है कि जैसे ही अर्थव्यवस्था में उक्त प्रक्रिया स्वयं को स्थापित कर लेगी, अर्थव्यवस्था का संरचनात्मक कायांतरण और गति पकड़ेगा।

तालिका 3.6 : जनसंख्या के ग्रामीण-शहरी वितरण में परिवर्तन (प्रतिशत)

वर्ष	ग्रामीण	शहरी
1961	82.0	18.0
1971	80.1	19.9
1981	76.9	23.1
1991	74.5	25.5
2001	72.2	27.8
2011	68.8	31.2

स्रोत : दशकीय जनगणना, 2011

3.4 भारत में क्षेत्रीय विषमताएँ

अपने प्रारंभ से ही भारतीय योजनाओं का सरोकार संतुलित संवृद्धि की संकल्पना से रहा है। परंतु इसके बावजूद, असंतुलित संवृद्धि और क्षेत्रीय विषमताएँ बनी ही रही हैं, क्योंकि अनेक कारक तृणमूल स्तर पर अपना काम करते ही रहे, जैसे– प्रगतिशील नीतियाँ लागू करने में राज्य सरकारों की तत्परता, वह सामाजिक परिवेश जिसमें किसी राज्य के लोग नीतियों व योजनाओं का लाभ उठाने में सक्षम नहीं होते, इत्यादि। परिणामतः, तीव्र संवृद्धि के लाभ देश के सभी भागों और लोगों के सभी वर्गों में न्यायोचित तरीके से नहीं पहुँचे हैं। सकल राज्य घरेलू उत्पादन (GSDP) संवृद्धि दरें और प्रति व्यक्ति उक्त उत्पाद (GSDP) के स्तरों में भिन्नताएँ विषमताओं के आर्थिक संकेतक मात्र हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा एवं अवसंरचनात्मक संसूचकों पर तो भारत के राज्यों के बीच व्यापक भिन्नताएँ हैं। इस प्रकार के परिदृश्य में, जबकि उच्च वृद्धि दरों ने देश के पहले से ही विकसित क्षेत्रों को व्यावसायिक एवं सेवा क्षेत्र के क्रियाकलापों की उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर प्रवृत्त किया है, पिछड़े क्षेत्रों में निरंतर शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, ग्रामीण सड़कों, पेयजल एवं बिजली जैसी मूलभूत सुख-सुविधाओं तक का अभाव बना हुआ है। आजीविका के विकल्प भी सीमित हैं, क्योंकि कृषि पर्याप्त लाभ नहीं देती और उद्योग व सेवाएँ कृषि से सीमित अधिशिष्ट श्रमबल का ही समावेश कर पाए हैं। परिणामतः, निम्न कौशल, कम तनख्वाह वाली नौकरियों में रोज़गार तलाशते लोग अनेक ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसे दबावों का एक सामान्य आविर्भाव है। क्षेत्रीय असंतुलनों एवं विषमताओं का समंजन, इसीलिए, न सिर्फ़ स्वयं में एक लक्ष्य रहा है बल्कि देश के एकीकृत सामाजिक एवं आर्थिक तानेबाने को कायम रखने हेतु भी अनिवार्य रहा है।

3.4.1 क्षेत्रीय विषमताओं का विस्तार एवं कारण

वे प्रमुख कारक जिन पर क्षेत्रीय विषमताओं को कम करने हेतु विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है, निम्नलिखित हैं –

ग़रीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या : विभिन्न राज्यों में क्षेत्रीय विषमताओं को कम करने हेतु ग़रीबी की रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या के प्रतिशत पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए, वर्ष 2011-12 में मात्र तीन राज्य (यथा, बिहार, उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश) ही मिलकर देश में कुल जनसंख्या का 44 प्रतिशत हो जाते थे। ग़रीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या का प्रतिशत भी इन

राज्यों में अखिल भारतीय स्तर (27.5 प्रतिशत) से काफ़ी ऊँचा था (यथा, बिहार 41.9 प्रतिशत, छत्तीसगढ़ 40.9 प्रतिशत, झारखंड 40.3 प्रतिशत, उत्तराखंड 39.6 प्रतिशत, मध्य प्रदेश 38.3 प्रतिशत)। इसका अर्थ है कि आर्थिक रूप से पिछड़े राज्यों में ग़रीबी की समस्या अत्यंत गहन है और इन्हीं राज्यों में गरीब जनसमुदाय की दशा सुधारे जाने के लिए अधिक प्रयासों पर ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है।

मानव विकास में विषमताएँ : मानव विकास संसूचकों के लिहाज़ से, भारत में राज्यों के बीच उल्लेखनीय भिन्नताएँ हैं। उदाहरण के लिए, केरल का प्रदर्शन सर्वोत्तम है (जहाँ साक्षरता दर 93.9 प्रतिशत है, स्त्री साक्षरता दर 92 प्रतिशत और शिशु मृत्यु दर 12 प्रतिशत), परंतु इसी स्थिति के दूसरे छोर पर आते हैं– बिहार, राजस्थान, हरियाणा, मध्यप्रदेश और असम, जहाँ प्रदर्शन निकृष्टतम है।

कृषि विकास में अंतर्राज्यीय विषमताएँ : क्षेत्रीय विषमता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण संसूचक है– देश के विभिन्न राज्यों के बीच कृषि के विकास के स्तरों में भिन्नताएँ। पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश के कुछ भाग विशेष में कृषिगत उत्पादकता की ऊँची दर है। कहा जा सकता है कि कृषि में बीजों की उच्च उत्पादकता किस्मों (HYV) के अंगीकरण ने क्षेत्रीय विषमताओं को गंभीर बना दिया है।

औद्योगिक विकास में विषमताएँ : महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक और तमिलनाडु– इन चार औद्योगिक रूप से उन्नत राज्यों में उद्योगों का अत्यधिक क्षेत्रीय संकेंद्रण रहा है। उद्योगों के वितरण संबंधी असमानता को विशेष पहलकारियों द्वारा ठीक किए जाने की आवश्यकता है, जैसे संसाधन हस्तांतरण, विशिष्ट क्षेत्र विकास कार्यक्रम, रियायती वित्त आदि।

संवृद्धि प्रदर्शन में विषमता : भारत में विभिन्न राज्य तीन समूहों में वर्गीकृत हैं, यथा, उच्च-आय राज्य, मध्यम.आय राज्य और निम्न-आय राज्य। इन राज्यों की सापेक्ष स्थितियाँ 1981.2008 की अवधि में उनके प्रति व्यक्ति वास्तविक राज्य सकल घरेलू उत्पाद (SGDP) के औसत द्वारा निर्धारित की जाती हैं।

विनियमन हटा देने और अर्थव्यवस्था को खोल देने से बड़े बाज़ार शक्तियों के दबाव ने अंतः और अंतर-राज्यीय विषमताओं को बढ़ाया ही है। इसीलिए, उत्तर-उदारीकरण अवधि में राज्यों और क्षेत्रों के बीच समता को प्रोत्साहित करने में केंद्र की भूमिका का महत्त्व, बढ़ गया है। सरकार की नीतियाँ तीव्रतर एवं अधिक समावेशी संवृद्धि हासिल करने के लक्ष्य के साथ पुनरानुस्थापित की गई हैं। इस दिशा में, ऐसे क्षेत्रों एवं क्षेत्रों. उपक्षेत्रों में धन पहुँचाने के प्रयास किए जा रहे हैं जिन पर विभिन्न कार्यक्रमों एवं योजनाओं के तहत विशेष ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है।

3.5 वर्धमान पूँजी-उत्पादन अनुपात (ICOR)

संसाधनों का आबंटन सभी अर्थव्यवस्थाओं के समक्ष एक मुख्य समस्या होती है। किसी राष्ट्र के संसाधनों के निवेश हेतु प्रभावी निकर्ष तय करना इस संबंध में अत्यंत महत्त्वपूर्ण होता है। सर्वाधिक परंपरागत निवेश निकर्षों में एक है– पूँजी-उत्पादन अनुपात का प्रयोग। इसी का एक भेद है– वर्धमान पूँजी-उत्पादन अनुपात (ICOR)। यह अनुपात उत्पादन की कोई अतिरिक्त इकाई उत्पन्न करने हेतु वांछित पूँजी अथवा निवेश की अतिरिक्त इकाई का संकेत करता है। बचत की दर को यह अनुपात (ICOR) आकलित करने हेतु निवेश के रूप में लिया जाता है। अतः, ICOR = (GDP

में निवेशांश) ÷ (GDP की वृद्धि दर); यथा ICOR = S / G, जहाँ, S बचत दर है और G वृद्धि दर।

हैरोड-डोमर प्रतिमान आर्थिक संवृद्धि दर निर्धारित करने में दो प्रमुख प्राचलों में से एक के रूप में उक्त अनुपात (ICOR) पर ध्यान केंद्रित करता है। अधिक विशिष्ट रूप से, G = S/ICOR. तद्नुसार ICOR जितना कम होगा, G उतना ही अधिक होगा। विलोमतः, ICOR जितना अधिक होगा, संवृद्धि दर उतनी ही कम होगी, अर्थात् *पूँजी* की उत्पादकता कम होगी। *बचत* (S) *को निवेश* (I) *के बराबर माना जाता है।*

भारत संदर्भ में, वर्ष 2012-13 पश्चात् अवधि के आँकड़ों का विश्लेषण दो रुझान दर्शाता है। प्रथम, निवेश दर में गिरावट आई। दूसरे, संवृद्धि दर में ह्रास निवेश दर में ह्रास से अधिक रहा, जो यह दर्शाता है कि वर्धमान पूँजी-उत्पादन अनुपात (ICOR) में बढ़ोतरी हुई। इस अनुपात में वृद्धि का श्रेय परियोजनाओं के समापन में विलंब अथवा संपूरक निवेशों के अभाव को दिया जा सकता है। कुछ मामलों में, यह देरी निर्णायक आगतों की अनुपलब्धता के कारण भी हुई। परियोजनाओं के समापन में विलंब आंतरिक कारणों के साथ-साथ नीतिगत संरोधों के कारण भी हो सकती है।

बोध प्रश्न 1 (दिए गए स्थान में अपना उत्तर लगभग 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) वर्ष 1951 से 2011 की अवधि में कृषि से होने वाली आय (राष्ट्रीय आय) किस सीमा तक गिरी? इस गिरावट के कारण औद्योगिक एवं सेवा क्षेत्रों द्वारा लिए गए लाभांश क्या रहे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) वर्ष 1951-2011 की अवधि में सेवा क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण विस्तार में किन कारकों ने योगदान दिया?

.....

.....

.....

.....

.....

3) उत्तर-1991 वर्षों के दौरान भारत के औद्योगिक विस्तार में गतिहीनता का दोष किन कारणों को दिया जाता है?

.....

.....

.....

.....

4) भारत में हाल के वर्षों में 'बचत' में क्या रुझान रहा है? 'निवेश' में इसके सदृश रुझान क्या रहा है? क्या दोनों के बीच कोई महत्त्वपूर्ण अंतर रहा है? यदि ऐसा है तो इसे दूर करने की क्या संभावनाएँ रही हैं?

.....

.....

.....

.....

5) रोज़गार के लिहाज़ से उत्तर-2000 वर्षों में औद्योगिक क्षेत्र में विस्तार की क्या दर रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

6) क्या आप 1951-2011 की अवधि में 21 प्रतिशत तक कृषिगत रोज़गार की गिरावट में संरचनात्मक परिवर्तन को महत्त्वपूर्ण मानते हैं? क्यों?

.....

.....

.....

.....

.....

7) 1961 से 2011 की अवधि में शहरी के अनुपात में क्या वृद्धि हुई? सुधार-पूर्व और सुधारोपरांत दशकों में इसका वितरण क्या रहा?

.....

.....

.....

.....

.....

8) कोई दो कारण बताइए कि क्यों क्षेत्रीय विकास के बीच विषमताएँ रही हैं।

.....

.....

.....

.....

9) वे कौन-से कारक हैं जिन पर संवृद्धि एवं विकास में क्षेत्रीय विषमताएँ कम करने के प्रयास किए जाते समय ध्यान दिया जाना चाहिए?

.....

.....

.....

.....

.....

10) वर्धमान पूँजी-उत्पादन अनुपात (ICOR) को आप कैसे परिभाषित करेंगे? आर्थिक विकास आयोजन में यह किस प्रकार महत्त्वपूर्ण है?

.....

.....

.....

.....

.....

11) यदि बचत-निवेश दर 36 प्रतिशत दी गई हो और लक्षित आर्थिक वृद्धि दर 6 प्रतिशत पर निर्धारित हो, तो वर्धमान पूँजी उत्पादन अनुपात (ICOR) क्या होगा? आगे, यदि उक्त अनुपात (ICOR) 2 प्रतिशत कम कर दिया जाए तो अर्थव्यवस्था के लिए प्रत्याशित वृद्धि दर क्या होगी?

.....

.....

.....

.....

.....

3.6 सार-संक्षेप

संरचनात्मक परिवर्तन का अर्थ है, किसी अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों के बीच रोज़गार व आय के सापेक्ष अंशों में बड़े बदलाव। ऐसे संरचनात्मक परिवर्तनों का किसी दीर्घावधि क्षितिज पर परिणत होना प्रत्याशित होता है। विशेष रूप से, कृषि क्षेत्र का अंश, जो कि विकास के निम्न स्तरों पर उच्च होगा, अन्य दो क्षेत्रों को हस्तांतरित हो जाता है, यथा, औद्योगिक एवं तृतीयक अथवा सेवा क्षेत्र को। तथापि, ऐसा अंतरण कभी-कभी औद्योगिक क्षेत्र के सेवा क्षेत्र जितना विस्तीर्ण हुए बिना भी हो सकता है। यद्यपि ऐसा अनेक विकसित अर्थव्यवस्थाओं में नहीं हुआ है, किंतु भारत के लिए, यही बात कही जाती है। यह अवधारणा वस्तुतः प्रासंगिक नहीं रही है, जैसाकि उत्तर 2000 वर्षों हेतु आँकड़ों में देखा गया जहाँ अपने रोज़गार अंश के लिहाज से कृषि क्षेत्र द्वारा निकले कुल 11 प्रतिशत बिंदुओं में से 8 प्रतिशत का बड़ा भाग उद्योगों में वर्धित रोज़गार अंश के कारण माना जाता है और शेष 3 प्रतिशत का सेवाओं के कारण। महत्त्वपूर्ण रूप से, वर्ष 2000 से पूर्व समस्त 5 दशकीय अवधि में, यथा वर्ष 1951 से

2000 तक, भी कृषि रोज़गार में ऐसा ही 10 प्रतिशत परिवर्तन देखा गया था (यथा, वर्ष 1951 में 70 प्रतिशत से वर्ष 2000 में 60 प्रतिशत की ऊँचाई तक)। साथ ही, उल्लेखनीय रूप से, केवल ग्रामीण क्षेत्र में रोज़गार पर विचार करते हुए, कृषि क्षेत्रीय रोज़गार के अंश में 10.5 प्रतिशत गिरावट देखी गई। यह रुझान ग्रामीण क्षेत्रों में ग़ैर-कृषि व ग़ैर-फार्म क्षेत्र संवृद्धि के माध्यम से श्रम हस्तांतरण की प्राक्कल्पना का समर्थन करता है। आय विवरण में परिवर्तन सकल घरेलू उत्पाद में कृषि के योगदान में बहुत बड़ी गिरावट दर्शाता है (वर्ष 1951 में 53 प्रतिशत से वर्ष 2011 में 14.5 प्रतिशत)। औद्योगिक क्षेत्र हेतु सदृश्य वृद्धि 17 से 28 प्रतिशत रही (यथा, 11 प्रतिशत बिंदु) और सेवाक्षेत्र हेतु यह 30 प्रतिशत से 58 प्रतिशत रही (यथा, 28 प्रतिशत बिंदु)। संरचनात्मक परिवर्तन का परिणाम ग्रामीण जनसंख्या के मुकाबले शहरी जनसंख्या की अंश वृद्धि रहा। यह परिवर्तन सामान्य से 13.2 प्रतिशत वृद्धि के रूप में देखा गया है, अर्थात् वर्ष 1961 में 18 प्रतिशत से वर्ष 2011 में 32 प्रतिशत।

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1) Athukorala P & Sen K (2002). Saving, Investment, and Growth in India, Oxford University Press, New Delhi.

2) Bhattacharya, B. B. & Sakthivel S. (2004). 'Regional Growth and Disparity in India: Comparison of Pre and Post-Reform Decades', *Economic and Political Weekly* 29(10), 6 March.

3) Cairncross, A.K. (1970). The Capital – Output Ratio in Stephen Spiegelglas and Charles (Ed.), Economic Development: Challenge and Promise.

4) Joshi, Vijay and I.M.D. Little (2005). India, Macro Economics and Political Economy I964 to 1991, Oxford University Press, New Delhi.

5) Papola & Sahu (2012). Growth and Structure of Employment in India: Long Term and Post-Reform Performance and the Emerging Challenge, ISID, New Delhi.

6) Rangarajan C, Seema and E. M. Vibeesh (2014). 'Developments in the Workforce between 2009-10 and 2011-12',*Economic and Political Weekly*, vol. XLIX (23).

3.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) संरचनात्मक परिवर्तन का अर्थ है, जनसंख्या के निचले तबकों को आर्थिक संवृद्धि के लाभों का हस्तांतरण, जो कि उनके आय एवं रोज़गार स्तरों में वृद्धि के माध्यम से होता है। शहरी और ग्रामीण के सापेक्ष अंशों में परिवर्तन (अर्थात् बढ़ा शहरीकरण) अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन का ही परिणाम होता है।

2) नहीं। कोई भी अर्थव्यवस्था एक विकसित, प्रस्थिति हासिल करने के लिए पशु-पालन समेत अपने कृषिगत क्षेत्र को 'कृषि एवं संबद्ध' क्रियाकलापों की ओर मोड़ सकता है।

3) संवृद्धि विवरणों की कालगत तुलना करने के लिए। इसके अभाव में, शेष अवधि के दौरान कीमतों के बदलते स्तरों को ध्यान में रखा जाता है।

4) विफलताओं का दोष लड़े गए युद्धों और अनुभव की गई अनावृष्टियों को दिया जाता है।

5) वैश्विक मंदी और खराब मानसून, जो कि मंथर गति के सुधारों के साथ आए।

6) नहीं। यह अवधि देश में बार-बार राजनीतिक अस्थिरता हेतु भी जानी जाती है।

7) हाँ। भारत में राष्ट्रीय आय की दीर्घावधि संवृद्धि दर वर्ष 1951-79 में 4 प्रतिशत से वर्ष 1980-97 में 6 प्रतिशत तथा वर्ष 1997-2017 में 7 प्रतिशत तक नियमित रूप से बढ़ती रही है।

बोध प्रश्न 2

1) कृषि क्षेत्र के अंश में गिरावट 39 प्रतिशत के आस-पास रही। उद्योग का यह अंश 11 प्रतिशत तक और सेवा क्षेत्र का 28 प्रतिशत तक बढ़ा।

2) सेवा क्षेत्र के अनेक घटकों हेतु माँग, सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में घटनाक्रम आदि।

3) कर्मचारियों का प्रवसन तथा सेवाओं हेतु मांग के स्वरूपों में परिवर्तन।

4) घरेलू बचत हाल के वर्षों में घट कर है जो वर्ष 2015 में 19 प्रतिशत तक पहुँच गई थी। तथापि, निवेश वर्ष 2008-13 में 35 प्रतिशत तक सुधर गया। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और विदेशी प्रेषण ने खाई को पाटने में योगदान दिया है।

5) वर्ष 2000+ में कृषिगत रोज़गार में 11 प्रतिशत की गिरावट देखी गई है। इसमें से 8 प्रतिशत अंश उद्योगों और 3 प्रतिशत सेवाओं की ओर चला गया।

6) हाँ। यद्यपि वर्ष 2000 तक 50 वर्ष की अवधि में, यह मात्र 10 प्रतिशत था, यह आरंभिक योजना अवधि, युद्धों, अनावृष्टियों आदि के लिहाज से अशांत ही मानी गई है। उत्तर 2000 वर्ष अपेक्षाकृत बेहतर अवधि रहे।

7) 13 प्रतिशत बिंदु। क्रमशः 7.5 व 5.7 प्रतिशत।

8) प्रगतिशील नीतियों के अपनाने एवं लागू नीतियों से लाभ लेने हेतु राज्य की क्षमता में अंतर।

9) ग़रीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या, मानव विकास संसूचक, कृषिगत प्रगति विकास की स्थिति, औद्योगिक विकास में विषमताएँ तथा संवृद्धि प्रदर्शन।

10) वर्धमान पूँजी-उत्पादन अनुपात (ICOR) को 'लक्षित वृद्धि दर के प्रति निवेश' के अनुपात के रूप में परिभाषित किया जाता है। उन लक्षित वृद्धि दरों को प्राप्त करने के लिए नीतियाँ अपनाना आवश्यक होता है जिनके लिए इस अनुपात (ICOR) पर ध्यान दिया जा सकता है, विशेष रूप से वांछित श्रम एवं पूँजी मिश्रण को तय करने के लिए।

11) $G = 36/6 = 6$. $G = 36/4 = 9$ प्रतिशत।

इकाई 4 संसाधन और संरोध*

संरचना

4.0 उद्देश्य

4.1 विषय प्रवेश

4.2 संसाधनों के प्रकार

4.2.1 प्राकृतिक संसाधन

4.2.2 मानव निर्मित संसाधन

4.3 अवसंरचना

4.3.1 भौतिक अवसंरचना

4.3.2 सामाजिक अवसंरचना

4.4 विकास में अवसंरचना की भूमिका

4.5 भारत में अवसंरचनात्मक विकास

4.6 संस्थान एवं शासन

4.7 सार-संक्षेप

4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

4.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद, आप इस योग्य होंगे कि :

- प्राकृतिक संसाधनों और मानव निर्मित संसाधनों के बीच अंतर स्पष्ट कर सकें;
- स्पष्ट कर सकें कि संसाधन किस प्रकार आर्थिक संवृद्धि एवं विकास हेतु आधारिक संरचना को अतिमहत्त्वपूर्ण बनाने में सहायक होते हैं;
- किसी दृढ़ अवंरचनात्मक आधार को तैयार करने में एक निर्णायक भूमिका निभाते उत्पादन के विभिन्न कारकों को वर्गीकृत कर सकें;
- भौतिक अवसंरचना और सामाजिक अवसंरचना के बीच भेद कर सकें;
- आर्थिक विकास में अवसंरचना की भूमिका पर चर्चा कर सकें;
- भारत में अवसंरचना विकास की स्थिति का वर्णन कर सकें; तथा
- 'संस्थान एवं शासन' के रूप में भारत में अवसंरचना विकास हेतु चुनौतियों एवं संरोधों की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकें।

4.1 विषय प्रवेश

प्राकृतिक संसाधनों में वे सभी चीज़ें और उत्पाद शामिल होते हैं जो, मानव श्रम, पूँजी व उद्यम के साथ मिलकर, लाभ एवं सेवाएँ प्रस्तुत करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं।

*प्रो. सेबक जाना, मिदनापुर विश्वविद्यालय

प्राकृतिक संसाधन अपनी प्रकृति में स्थिर नहीं बल्कि गतिशील होते हैं; वे आर्थिक विकास के स्तर के साथ बदलते रहते हैं। संसाधन अवसंरचना विकास के लिए आवश्यक होते हैं जो कि बदले में समग्र विकास, यथा, अर्थव्यवस्था के सभी तीन प्राथमिक क्षेत्रों की संवृद्धि एवं विकास के लिए सामर्थ्य और संभावना निर्धारित करता है। परिवहन, संचार एवं ऊर्जा आर्थिक अवसंरचना के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटक हैं। परिवहन के विभिन्न साधन, तीव्रतर गति पर आग्रह के साथ विकसित हुए हैं, यही दर्शाते हैं कि किस प्रकार विश्व तेज़ी से बदलते समय-गति सदिश में विराजमान है। दूरियाँ स्थानिक पदों में नहीं बल्कि गति के आधार पर मापी जाती हैं। इन सबमें, ऊर्जा की खपत ही एकमात्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राचल है जो किसी विकसित अर्थव्यवस्था को किसी विकासशील अर्थव्यवस्था से अलग खड़ा करता है। इस इकाई में हम भारतीय अर्थव्यवस्था के प्रसंग में संसाधनों एवं अवसंरचना के घटकों पर चर्चा करेंगे। विकास के मार्ग में संरोधों अर्थात् अवरोधक तत्त्व, (संस्थानों एवं शासन' में अक्षमताओं के कारण अवसंरचना के किसी अभाव द्वारा भी) इस इकाई में चर्चा के मूल में रहेंगे।

4.2 संसाधनों के प्रकार

संसाधन एक ऐसा स्रोत या संचय है जिससे कोई लाभकारी वस्तु उत्पादित होती हो। विशिष्टतः, संसाधन सामग्रियाँ, ऊर्जा, सेवाएँ, श्रम, ज्ञान व अन्य भौतिक परिसंपत्तियाँ होते हैं। ये किसी लाभकारी वस्तु को प्रस्तुत करने के लिए किसी न किसी प्रकार मिश्रण में प्रयोग किए जाते हैं। इस प्रक्रिया में, कुछ संसाधन (जिन्हें अनवीकरणीय अथवा समाप्य संसाधन कहा जाता है) इस प्रकार उपभोग भी कर लिए जा सकते हैं कि वे संसाधन, वे भावी प्रयोग के लिए अनुपलब्ध हो जाते हैं। संसाधन, तद्नुसार, मूलतः दो प्रकार के होते हैं– प्राकृतिक और मानव-निर्मित। आइए, इन दोनों के बीच अंतर कर चर्चा आरंभ करें।

4.2.1 प्राकृतिक संसाधन

प्राकृतिक संसाधन पर्यावरण से व्युत्पन्न होते हैं। इनमें से कुछ संसाधन जीवित रहने के लिए अनिवार्य हैं, जबकि अन्य हमारी सामाजिक इच्छाएँ पूरी करते हैं। किसी भी अर्थव्यवस्था में प्रत्येक मानव निर्मित उत्पाद कुछ हद तक प्राकृतिक संसाधनों से ही बना होता है। प्राकृतिक संसाधन प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री हैं जिनका प्रयोग कर मनुष्य अन्य अनेक जटिल उत्पाद तैयार करता है जिन्हें मानव निर्मित उत्पादों की संज्ञा दी जाती है। प्राकृतिक सांधनों के कुछ उदाहरण और जिस प्रकार से हम उन्हें प्रयोग करते हैं, तालिका 4.1 में दर्शाए गए हैं।

तालिका 4.1 : प्राकृतिक संसाधनों के प्रकार

प्राकृतिक संसाधन	उत्पादों अथवा सेवाओं के उदाहरण
वायु	पवन ऊर्जा
कोयला	बिजली
खनिज	सिक्के, तार, इस्पात, एल्युमीनियम पात्र, आभूषण
प्राकृतिक गैस	विद्युत, ताप
तेल	बिजली, वाहन ईंधन

सूर्य प्रकाश	सौर ऊर्जा, प्रकाश-संश्लेषण
जल	जल-विद्युत ऊर्जा, पेय सफ़ाई

स्रोतः http://study.com/academy/lesson/what-are-natural-resources-definition-lesson-quiz.html

जल संसाधन : जल जीवन के अनेक पहलुओं के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सीमा निर्धारक कारक है, जैसे – (i) आर्थिक संवृद्धि, (ii) पर्यावरण स्थिरता, (iii) जैव विविधता संरक्षण, (iv) खाद्य सुरक्षा, तथा (v) स्वास्थ्य परिचर्या। वर्तमान में, मनुष्य विश्व में सुलभ समस्त अलवणीय जल आपूर्ति का लगभग 54 प्रतिशत प्रयोग करता है। वर्ष 2025 तक यह अंश बढ़कर 70 प्रतिशत पहुँच जाने की आशा है। इसके पादप जगत् समेत संपूर्ण सजीव जगत के लिए गंभीर निहितार्थ हैं। इन अनेक कारणों से अलवणीय जल हेतु माँग अभूतपूर्व स्तरों तक बढ़ रही है, जैसे– (i) जनसंख्या वृद्धि, (ii) बढ़ती सिंचाई आवश्यकताएँ, (iii) तीव्र शहरीकरण, (iv) औद्योगीकरण, तथा (v) उत्पादन एवं उपभोग में वृद्धि। भारत को विश्व में एक जलीय उत्तेजनशील स्थल अर्थात् अखाड़े के रूप में गिना जाता है, जिसका प्रमुख कारण है– यहाँ की विशाल जनसंख्या, जिसे खाद्य एवं पेयजल प्रदान करना ही होता है। जल की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता भारत में वर्ष 1951 में 5000ड^3 (घन मीटर) से घटकर वर्ष 2010 में मात्र 1588 M^3 रह गई है।

ऊर्जा संसाधन : ऊर्जा संसाधन दो प्रकार के होते हैं : अनवीकरणीय और नवीकरणीय। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अनवीकरणीय ऊर्जा संसाधन जीवाश्म ईंधन हैं, जैसे कोयला, तेल और प्राकृतिक गैस। ऊर्जा औद्योगिक क्षेत्र, परिवहन क्षेत्र (जो कि मुख्यतः निजी कारों में वृद्धि के कारण ऊर्जा प्रयोग करने वाला विश्व का सबसे तेज़ी से बढ़ता रूप है) तथा आवास एवं वाणिज्यिक क्षेत्र (यथा, भवनों, व्यापार, सार्वजनिक सेवाओं, कृषि एवं मत्स्य उद्योग में ऊर्जा प्रयोग) में प्रयोग की जाती है। भारत, चीन, अमेरिका एवं रूस के बाद विश्व में चौथा सबसे बड़ी ऊर्जा उपभोक्ता है। तथापि, अमेरिका में 6800 इकाइयों और चीन में 2030 इकाइयों की तुलना में भारत का प्रतिव्यक्ति ऊर्जा उपभोग 615 इकाइयाँ मात्र हैं।

भारत कोयले का तीसरा सबसे बड़ा उपभोक्ता है और विश्व में पाँचवाँ सबसे बड़ा कोयला भंडार स्वामी है। भारत के पास पर्याप्त तेल नहीं है और इसलिए उसे अपनी तेल संबंधी आवश्यकता का 83 प्रतिशत आयात करना पड़ता है। भारत, चीन, जापान और अमेरिका के बाद विश्व का चौथा सबसे बड़ा तेल-आयातक है। सरकार ऊर्जा उत्पादों की कीमतों पर साहाय्य देने को बाध्य है, परंतु अभी हाल में उसे ऐसे परिदान कम करते देखा जा रहा है। लगभग 25 प्रतिशत जनसंख्या को बिजली सुलभ ही नहीं है जबकि विद्युतीकृत क्षेत्र असतत् विद्युत निर्माण से पीड़ित रहता है। सरकार वर्तमान में पवन फार्म, सौर ऊर्जा, जलविद्युत् और कचरे-से-ऊर्जा परियोजनाएँ जैसे नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों को प्रोत्साहन दे रही है।

वन संसाधन : मानव मात्र जो आर्थिक लाभ वनों से प्राप्त करता है, दो प्रकार के होते हैं– (i) प्रत्यक्ष प्रयोग मूल्य, जैसे इमारती लकड़ी, जलाऊ लकड़ी, खाद्य पादप, आदि व औषधीय पादप; तथा (ii) परोक्ष प्रयोग मूल्य, जैसे कार्बन अवशोषण, जैव. विविधता संरक्षण हेतु प्राकृतिक आवास का प्रावधान, पारितंत्र संरक्षण सेवाएँ, जैसे मृदा अपरदन घटाने हेतु क्षमता एवं नदियों की गाद कम करना। भारत के लिए 'ऊर्जा स्थिति रिपोर्ट, 2013' के कुछ निष्कर्ष हैं– (i) देश का वन एवं वृक्ष आवरण लगभग

7 करोड़ हेक्टेयर अथवा कुल भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 21 प्रतिशत है; (ii) वर्ष, 2011 के मूल्यांकन के बाद से, वनावरण में 5800 हेक्टेयर की वृद्धि हुई है; तथा (iii) भारत के सात उत्तर-पूर्वी राज्य देश के वनावरण का लगभग एक-चौथाई भाग घेरते हैं।

भूमि : यद्यपि वैश्विक भू-क्षेत्र पृथ्वी की सतह के एक-तिहाई से भी कम है, यह मानवमात्र को प्रदत्त अपने अनेक संसाधनों एवं प्रकार्यों के कारण हमारे अस्तित्व हेतु अत्यावश्यक है। इनमें आते हैं– (i) जैव विविधता, (ii) जल, (iii) कार्बन चक्र, आदि। विश्व के भू-पृष्ठ का वर्धमान 'मरुस्थलीकरण' के साथ निरंतर अवक्रमण हो रहा है। एक अनुमान के अनुसार समस्त प्रयोज्य भूमि के 23 प्रतिशत का अवक्रमण हो चुका है। अवक्रमण के प्रमुख कारण हैं– (1) निर्वनीकरण, (2) अतिचारण, (3) कुव्यवस्थित कृषि, (4) अनियोजित औद्योगीकरण एवं शहरीकरण, आदि। किसी भी देश में कुल भूक्षेत्र अपनी निश्चित सीमाओं में ही रहता है, जिसके भीतर आर्थिक विकास की प्रक्रिया को नियोजित करना होता है। वर्धमान विश्व जनसंख्या के साथ भूमि पर दवाब गहरा होगा। भारत में भूमि प्रयोग का प्रतिमान तालिका 4.2 में दर्शाया गया है। उपलब्ध भूमि, अपने प्रयोग के आधार पर दो प्रकार से वर्गीकृत की जाती है, यथा –(क) कृषि भूमि, और (ख) ग़ैर-कृषि भूमि।

तालिका 4.2 : भारत में भूमि प्रयोग

(वर्ग किमी. में)

प्रयोग पर वर्गीकरण की मदें	1950–51	प्रतिशत	2014–15	प्रतिशत
भौगोलिक क्षेत्र	328726	–	328726	–
भूमि प्रयोग आँकड़ों हेतु सूचित क्षेत्र	284315	100	307818	100
वन	40482	14	71794	23
बंजर भूमि	47517	17	43880	14
परती भूमि छोड़कर शेष अकृष्य भूमि	49446	17	25832	8
परती भूमि (कृष्य भूमि के मध्य अकृष्य भूमि)	28124	10	26182	9
निवल बुआई क्षेत्र	118746	42	140130	46

कृषि भूमि में निवल बुआई क्षेत्र और वर्तमान परती भूमि शामिल होते हैं। भारत में (वर्ष 2014–15 में) कृषि भूमि, तद्नुसार, कुल भौगोलिक क्षेत्र का लगभग 55 प्रतिशत है। देश की विशाल जनसंख्या के कारण, प्रतिव्यक्ति कृष्य भूमि (यथा, कृषि-योग्य भूमि) 0.24 हेक्टेयर के विश्व औसत के मुकाबले मात्र 0.16 हेक्टेयर ही है। ग़ैर-कृषि भूमि में शामिल हैं– (i) वनावृत्त भूमि, (ii) अकृष्य परती, बंजर भूमि के रूप में वर्गीकृत तथा पर्वतों एवं मरुस्थलों में अकृष्य भूमि।

4.2.2 मानव निर्मित संसाधन

मानव निर्मित संसाधन प्रकृति द्वारा प्रदत्त संसाधनों का प्रयोग कर उत्पादित माल व सेवाएँ हैं। प्रायः, संसाधन मनुष्य के लिए उपयोगी तभी बन पाते हैं जब उनका मूल

रूप बदल दिया जाता है। ऐसी वस्तुएं प्राकृतिक रूप से नहीं होतीं बल्कि मानव द्वारा उपभोग हेतु उत्पादित की जाती हैं। औषधियों, जैसे कुछ मानव निर्मित संसाधन आधुनिक मानव जीवन के लिए अत्यंत आवश्यक हैं, क्योंकि, टीका-द्रव्य जैसी औषधियों के बिना लोग रोग एवं मृत्यु के शिकार हो जाएँगे। किंतु, पीड़कनाशी जैसे कुछ मानव निर्मित संसाधन वैज्ञानिक रूप से प्रयोग न किए जाने पर प्राकृतिक पर्यावरण को हानि भी पहुँचा सकते हैं।

कुछ मानव निर्मित संसाधन प्राकृतिक संसाधनों की भाँति ही होते हैं। उदाहरण के लिए, झीलें और ताल मानव-निर्मित संसाधन हैं। जबकि उनमें जल और मछलियाँ प्राकृतिक संसाधन हैं, किंतु उनमें जल मानव प्रयास द्वारा ही एकत्र होता है। ऐसे संसाधन अनेक लोगों के लिए खाद्य, आय और आमोद-प्रमोद अवसर पैदा करते हैं। इसी प्रकार, खेत भी प्रकृति से उपलब्ध पौधे एवं मृदा प्रयोग करने वाले मानव निर्मित संसाधन हैं। कागज़ जैसे कुछ अन्य मानव निर्मित संसाधन प्रायः पुस्तकों एवं तश्तरियों जैसे अन्य संसाधन तैयार करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। तारों एवं अर्धचालकों जैसे उच्च-प्रौद्योगिक उत्पाद मानव के प्रयोग हेतु बनी अन्य वस्तुएँ हैं। अन्य मानव निर्मित संसाधनों के उदाहरण हैं– अस्पताल, अनुसंधान केंद्र, शैक्षणिक संस्थान, आदि। ये सामुदायिक विकास हेतु संसाधनों के रूप में काम करते हैं। कुल मिलाकर वे अवसंरचना बन जाते हैं जो आर्थिक संवृद्धि एवं विकास की रीढ़ कहलाते हैं।

4.3 अवसंरचना

अवसंरचना, अर्थात् आधारिक संरचना, के अंतर्गत वे आनुषंगिक सेवाएँ आती हैं जो कृषि एवं उद्योग जैसे उत्पादनकारी क्रियाकलापों की संवृद्धि में सहायक होती हैं। यद्यपि अवसंरचनाकी संकल्पना आर्थिक विकास विषयक पुस्तकों में व्यापक रूप से प्रयोग होती रही है, 'अवसंरचना' शब्द की कोई भी सटीक एवं सामान्यतः स्वीकार्य परिभाषा अब भी भ्रांतिजनक ही होती है। गुणात्मक एवं दक्ष अवसंरचना सेवाओं का प्रावधान अर्थव्यवस्था से उमड़ते संवृद्धि आवेगों की पूर्ण अंतःशक्ति को कार्य में परिणत करने हेतु अपरिहार्य होता है। प्रो. वी.के.आर.वी. राव ने उत्पादन के कारकों का एक सर्वसमावेशी वर्गीकरण किया है, जिसमें अवसंरचना व उसके निर्माण में अभिन्न क्रियाकलाप/कार्यक्षेत्र दिए गए हैं, जो कि निम्नवत् हैं–

क) **परिवहन** : सड़कें, रेलमार्ग, नौवहन पत्तन एवं बंदरगाह, हवाई पत्तन, परिवहन उपकरण।

ख) **संचार** : डाक, तार, दूरभाष, आकाशवाणी, दूरदर्शन, चलचित्र।

ग) **ऊर्जा** : कोयला, बिजली (जल, ताप, नाभिकीय), पवन, सौर, तेल, गैस, गोबर गैस।

घ) **माध्यमिक वस्तु उत्पादन** : खनिज, इस्पात, मूल रसायन, उर्वरक एवं पीड़कनाशी, यंत्र-समूह एवं यंत्र उपकरण।

ङ) **प्राकृतिक संसाधनों की उत्पादकता** : भूमि-सुधार, सिंचाई (वृहद्, मध्यम, लघु), अपवाह, मेंड़बंदी, बाँध बनाना व भूमि पुनर्रूपांतरण, चकबंदी, उच्च. उत्पादकता गो-जातीय किस्में, मत्स्य ग्रहण नौकाएँ, मत्स्य ग्रहण उपस्कर एवं प्रशीतन, वनीकरण एवं वाणिज्यिक वनों का विकास।

च) **विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी** : अध्यापन, आधारिक एवं व्यावहारिक अनुसंधान, राष्ट्रीय प्रयोगशालाएँ, उत्पादन इकाइयों से संपर्क।

छ) **सूचना प्रणाली** : जनसंपर्क साधन, पुस्तकालय एवं संग्रहालय, मेले एवं प्रदर्शनियाँ, पुस्तकें एवं पत्र-पत्रिकाएँ।

ज) **वित्त एवं बैंक व्यवसाय** : बचत संस्थान (सार्वजनिक, निजी एवं सहकारी क्षेत्रों में), ऋण एवं परिदाय संस्थान (सार्वजनिक, निजी एवं सहकारी क्षेत्रों में), पूँजी बाज़ार।

झ) **मानव संसाधन विकास** : पेयजल, रोग उन्मूलन, सार्वजनिक स्वच्छता, परिवार नियोजन, चिकित्सा सुविधाएँ, शिक्षा-साक्षरता, विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय, व्यावसायिक शिक्षा, तकनीकी एवं औद्योगिक विद्यालय, विकास शास्त्र विधाएँ।

किसी भी देश का आर्थिक विकास खासकर कृषि, उद्योग एवं सेवाक्षेत्र जैसे क्षेत्रों का विकास, काफ़ी कुछ उसकी अवसंरचनात्मक सुविधाओं की उपलब्धता पर निर्भर करता है। किसी भी अर्थव्यवस्था की अवसंरचना स्थूलतः दो प्रकार की होती है– भौतिक अवसंरचना और सामाजिक अवसंरचना। अवसंरचना को प्रयोजनों के उद्देश्य के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है, यथा (i) 'अनम्य' और 'सुनम्य' अवसंरचना, (ii) ग्रामीण एवं शहरी अवसंरचना, तथा (iii) सांस्थानिक एवं ग़ैर-सांस्थानिक अवसंरचना। **अनम्य अवसंरचना** को सड़कों, सेतुओं आदि भौतिक अवसंरचना के रूप में परिभाषित किया जाता है, जबकि **सुनम्य अवसंरचना** को मानव पूँजी एवं उन संस्थानों के रूप में देखा जाता है जो किसी जनसमुदाय के आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक मानक कायम रखने के लिए वांछित होते हैं।

4.3.1 भौतिक अवसंरचना

भौतिक अवसंरचना कृषि, उद्योग एवं व्यापार जैसे उत्पादन क्षेत्रों से सीधे संबद्ध होता है। इसमें बिजली, सिंचाई, परिवहन एवं दूरसंचार जैसी सेवाएँ शामिल होती हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में भौतिक अवसंरचना का कार्य-प्रदर्शन मिश्रित एवं उतार-चढ़ाव भरा रहा है। वर्ष-दर-वर्ष भारत की 'सुनम्य अवसंरचना' तेज़ी से विकसित होती रही है। इसके विपरीत, 'अनम्य अवसंरचना' का विस्तार एवं कार्य-प्रदर्शन देश के जनसंख्या घनत्व को ध्यान में रखते हुए साधारण ही रहा है।

4.3.2 सामाजिक अवसंरचना

सामाजिक अवसंरचना में शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सीय देखभाल, पोषण, आवास तथा जलापूर्ति शामिल होते हैं, जो कि मानव विकास में सुधार हेतु योगदायी रूप से सहायक सिद्ध होते हैं। इसके परिणामस्वरूप आर्थिक विकास तेज़ी से होता है। मानव विकास लोगों के विकल्पों व उनके क्षेम-स्तर को विस्तीर्ण करने की प्रक्रिया है। ये विकल्प कालांतर में बदलते हैं और विकास के अपने चरण के अनुसार समान व्यक्तियों के बीच भी भिन्न-भिन्न होते हैं। लोगों के लिए तीन अनिवार्य विकल्प हैं– एक दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन बिताना, ज्ञानार्जन करना तथा जीवन के एक मर्यादित मानक हेतु आवश्यक संसाधनों की सुलभता।

'सामाजिक अवसंरचना' पदबंध का प्रयोग उन 'ऊर्ध्वस्थ सुविधाओं' (यथा, जो उत्पादन से संबद्ध न हों) के अर्थ में किया जाता है, जो उत्पादन में श्रम उत्पादकता की गुणवत्ता सुधारने में योगदायी होती है। इसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, आदि शामिल होते हैं। सामाजिक अवसंरचना मानव-पूँजी निर्माण में अत्यावश्यक होती है जबकि

भौतिक अवसंरचना भौतिक पूँजी का निर्माण करती है। जहाँ एक ओर, मानव पूँजी आर्थिक विकास की प्रक्रिया में एक बेहद महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है, सामाजिक अवसंरचना पर व्यय उपभोग की बजाय निवेश माना जाता है। आर्थिक एवं सामाजिक, दोनों अवसंरचनाएँ, आर्थिक क्रिया-कलापों को कुशलतापूर्वक निष्पादित करने के लिए समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। यह भेद केवल उनकी विषय-वस्तु में अंतर विषयक है, न कि उनकी भूमिका अथवा महत्ता विषयक।

अंतर्जात संवृद्धि सिद्धांत के अनुसार, निकृष्ट भौतिक अवसंरचना तथा मानव पूँजी दोनों आर्थिक संवृद्धि को संरोधित करती हैं। उदाहरण के लिए, हॉल एवं जोन (1999) का दावा है कि प्रतिकर्मी उत्पादन स्तरों में अंतर्राष्ट्रीय भिन्नताएँ मानव पूँजी में तथा भौतिक एवं सामाजिक अवसंरचना में भिन्नताओं द्वारा निर्धारित की जाती हैं। वैग्स्टाफ़ (2002) लिखते हैं कि वर्ष 1965 व 1990 के बीच पूर्व-एशिया में वार्षिक आर्थिक संवृद्धि के 1.7 प्रतिशत तक का श्रेय सामाजिक अवसंरचना (यथा सार्वजनिक शिक्षा एवं स्वास्थ्य), में उत्कृष्ट निवेश को दिया जा सकता है।

बोध प्रश्न 1 (दिए गए रिक्त स्थान में अपना उत्तर 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) प्राकृतिक संसाधनों के विभिन्न प्रकार बताइए। किसी मानव निर्मित संसाधन का उत्पादन करने के लिए प्रत्येक का एक उदाहरण भी दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) जीवन के वे पाँच सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू बताइए जो निर्णायक रूप से जल पर निर्भर हैं। इस ग्रह पर उपलब्ध जल के प्रयोग में सतत् वृद्धि का श्रेय किस कारक को दिया जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) 'अवसंरचना' को किस प्रकार परिभाषित किया जाता है? इसके घटकों के उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

4) प्रो. वी.के.आर.वी. राव द्वारा वर्गीकृत अवसंरचना के नौ घटक बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

5) भौतिक एवं सामाजिक अवसंरचनाओं के बीच भेद कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

6) अंतर्जात संवृद्धि सिद्धांत आर्थिक विकास के मार्ग में मूल संरोधों के रूप में किन्हें मान्यता देता है? इस संबंध में वैयक्तिक योगदाताओं का क्या कहना है?

.....

.....

.....

.....

4.4 विकास में अवसंरचना की भूमिका

प्रत्येक राष्ट्र का मुख्य उद्देश्य अपने जनसमुदाय की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रयास करना होता है। इसके लिए, वह उच्चतर सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि दरें हासिल करने मात्र से वांछित संसाधन बढ़ा सकता है। इससे उस देश को अपने अवसंरचना विकास में निवेश करने में मदद मिलेगी और फिर वह प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के माध्यम से निवेशार्थ अन्य देशों को आकर्षित कर सकेगा। अवसंरचना, तद्नुसार, उच्चतर संवृद्धि हासिल करने के मूल उद्देश्य को पूरा करने में महत्त्वपूर्ण रूप से सहयोग करती है। भौतिक अवसंरचना आर्थिक संवृद्धि को सीधे सहयोग करती है जबकि सामाजिक अवसंरचना समुदाय के जीवन-गुणवत्ता मानकों को सुधार कर अप्रत्यक्ष रूप से करती है। अधिक विशिष्ट रूप से, विकास में अवसंरचना की भूमिका और योगदान निम्नवत् पहचाने जा सकते हैं –

- प्रथम, भौतिक अवसंरचना न सिर्फ़ उत्पादकता बढ़ाने में योगदान देती है बल्कि मानव पूँजी की संभाव्य क्षमता की प्राप्ति में भी मदद करती है। यह ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करती है जिनमें वह संभाव्यता पूर्णतः फलीभूत हो सके। यह प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से लोगों के जीवन की गुणवत्ता एवं सुरक्षा बढ़ाने की दिशा में भी योगदान देती है।

- दूसरी, अवसंरचना की प्रकृति एवं वृद्धि दर किसी भी देश के विकास-पथ को

इस प्रकार से निर्धारित करती है – (i) उत्पादन का विविधीकरण एवं व्यापार का विस्तार; (ii) जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण; (iii) ग़रीबी का उन्मूलन; तथा (iv) पर्यावरण की दशाओं का संरक्षण एवं सुधार। यह अनुमान किया जाता है कि किसी भी देश के अवसंरचना भंडार में एक प्रतिशत की वृद्धि उस देश के सकल घरेलू उत्पाद में एक प्रतिशत की वृद्धि का कारण बन जाती है (विश्व विकास रिपोर्ट, 1994)। ग्रामीण उद्यम के क्षेत्र में चीन की सफलता में एक महत्त्वपूर्ण अवयव ग्राम स्तर पर परिवहन, दूर संचार एवं बिजली का पैकेज रहा है। 'भौतिक अवसंरचना' के तत्व बाह्यताओं की एक श्रृंखला सृजित करते हैं। उदाहरण के लिए, बिजली का प्रयोग सभी प्रकार की उत्पादन इकाइयों के सक्रिय कायांतरण में मदद करता है; संचार एवं परिवहन का विकास कृषि के व्यापारीकरण एवं व्यापार गतिविधियों हेतु मार्ग प्रशस्त करता है, साथ ही, ये किसी देश के भीतर तमाम क्षेत्रों के बीच श्रमिक-वर्ग की गतिशीलता बढ़ाने में भी सहायक सिद्ध होते हैं; आदि।

- तीसरे, शिक्षा और स्वास्थ्य – जो कि सामाजिक अवसंरचना के मुख्य घटक हैं – मानव-पूँजी निर्माण के माध्यम से आर्थिक विकास में योगदान देते हैं। जनसाधारण की वास्तविक शिक्षा (यथा, सर्वतोमुखी प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा) एक कुशल श्रमबल आधार स्थापित करके दीर्घ समयावधियों में ग़रीबी घटाने और आर्थिक विकास की उच्चतर दरें कायम रखने हेतु अत्यावश्यक होती है।

- चौथे, धन और पूँजी बाज़ारों वाली 'वित्तीय अवसंरचना' के घटक अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को लघु, मध्यम एवं दीर्घावधि के ऋण प्रदान करते हैं। विशेष रूप से, वाणिज्यिक बैंक बचतें संकलित करते हैं और लघु-अवधि ऋण देते हैं, तो विकास बैंक यही काम कृषि एवं उद्योग को दीर्घावधि ऋण प्रदान करने के लिए करते हैं।

- पाँचवें, गरीब जन-समुदाय की सहायता करने वाली अवसंरचना सेवाएँ पर्यावरणीय धारणीयता में भी योगदान देती हैं। उदाहरण के लिए, स्वच्छ जल एवं स्वच्छता, ऊर्जा के ग़ैर-प्रदूषणकारी स्रोत, ठोस अपशिष्ट का सुरक्षित निपटान, शहरी क्षेत्रों में यातायात का बेहतर प्रबंधन, आदि जनता के सभी वर्गों के लिए पर्यावरण लाभ प्रदान करते हैं। शहरी ग़रीब प्रायः उत्तम अवसंरचना सेवाओं से सीधे लाभान्वित होते हैं क्योंकि वे अस्वच्छ दशाओं, खतरनाक उत्सर्जन एवं दुर्घटना जोखिमों वाली बस्तियों में ही प्रायः संकेंद्रित पाये जाते हैं।

- छठे, अवसंरचना पर्यटन के विकास में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। तथापि, ऐसे क्षेत्रों में जो प्राकृतिक भूदृश्य (यथा, पर्वतीय क्षेत्र, समुद्र तट, वन आदि) हेतु पर्यटकों को आकर्षित करते हैं, भौतिक अवसंरचना का विकास इस प्रकार किए जाने की आवश्यकता होती है कि पर्यावरणीय सरोकार यथोचित रूप से संरक्षित हों।

दूरसंचार एवं भू.उपग्रहों के प्रयोग के क्षेत्रों में आई प्रौद्योगिकीय क्रांति ने जीवन के सभी क्षेत्रों में सूचना-प्रणाली को आमूल.चूल रूप से उन्नत बना दिया है। हमें इसको अवसंरचना के एक महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में भली-भाँति प्रयोग करना चाहिए। इसके अलावा, जलापूर्ति, मल-व्ययन, सड़कों, संरक्षण सेवाओं आदि की समुचित

प्रणालियों के साथ नागरिक जीवन की मूल आवश्यकताओं जैसी अवसंरचना के अनुरक्षण हेतु उपयुक्त सांस्थानिक व्यवस्थाओं के विकास पर भी ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है ताकि अवसंरचना विकास से विधिवत् लाभ उठाया जा सके।

4.5 भारत में अवसंरचनात्मक विकास

परिवहन व्यवस्था अनुपूरक सहयोगी सेवाओं पर निर्भर करती है। वे विभिन्न साधन एवं सेवाएँ जिन पर व्यापक परिवहन व्यवस्था निर्भर करती है, इस प्रकार हैं– रेलमार्ग, सड़कें, पत्तन, अंतर्देशीय जल-परिवहन, तटीय पोत-परिवहन, हवाई पत्तन एवं हवाई कंपनियाँ। भारत में परिवहन के प्रमुख साधन हैं– रेलमार्ग और सड़कें, जो कुल यातायात के 95 प्रतिशत से अधिक का लाना-ले जाना करते हैं। यद्यपि तटीय पोत. परिवहन एवं अंतर्देशीय जल-परिवहन भी एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, रेलमार्ग एवं सड़कें देश में परिवहन के पटल पर प्रमुखता से दिखाई पड़ते हैं। विभिन्न परिवहन साधनों के विकास को प्रोत्साहित करना आवश्यक है ताकि वे मिलकर किसी एकीकृत तरीके से एक दक्ष, धारणीय, सुरक्षित एवं क्षेत्रीय रूप से संतुलित परिवहन व्यवस्था की ओर अग्रसर हों। अर्थव्यवस्था के उदारीकरण ने उत्पादकता बढ़ाने के लिए एक दक्ष परिवहन व्यवस्था की आवश्यकता को पहचाने जाने और इस प्रक्रिया में, विश्व बाज़ार में प्रभावपूर्ण ढंग से स्पर्धा करने में देश को सक्षम बनाने के महत्त्व को मन में बैठा दिया है। पर्याप्त एवं भरोसेमंद परिवहन अवसंरचना (एवं सेवाएँ) देश की अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने एवं प्रत्यक्ष विदेशी निवेश आकर्षित करने की क्षमता बढ़ाने में योगदान देने के लिए आवश्यक होती है।

सड़क संजाल : भारत में सड़क संजाल में शामिल हैं– (i) राष्ट्रीय राजमार्ग (NH), (ii) राज्यीय राजमार्ग (SH), (iii) मुख्य ज़िला मार्ग (MDRs), तथा (iv) अन्य ज़िला मार्गों व ग्राम मार्गों समेत ग्रामीण मार्ग (RR)। प्रथम प्रकार (NHs), लगभग 66,600 किमी. की कुल लंबाई तक फैले हैं। सड़क संजाल के लगभग 20 प्रतिशत को और सड़क यातायात के 40 प्रतिशत को समाविष्ट करता है। राज्यीय राजमार्ग (लगभग 1.37 लाख किमी. लंबाई के साथ) तथा मुख्य ज़िला मार्ग (लगभग 3 लाख किमी. लंबाई के साथ) मिलकर सड़क परिवहन की द्वितीयक व्यवस्था का गठन करते हैं, जो कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विकास तथा देश की औद्योगिक संवृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है। द्वितीयक व्यवस्था भी कुल सड़क यातायात के लगभग 40 प्रतिशत का वहन करती है। ग्रामीण मार्ग (जो 28 लाख किमी. लंबाई का विशाल अवशिष्ट भाग हैं) आर्थिक एवं सामाजिक सेवाओं की सुलभता बढ़ाने के अलावा उच्चतर कृषि आय एवं प्रभावी रोज़गार अवसर पैदा करने के लिए शेष जगत से गाँवों को जोड़ने की क्षमता रखते हैं जो कि अत्यावश्यक है। सड़क संजाल सुधारने के लिए, सुनहरा चतुर्भुज (गोल्डन क्वाड्रिलेटरल–GQ) और उत्तर-दक्षिण एवं पूर्व-पश्चिम (NS-EW) गलियारे जैसी परियोजनाओं के तेज़ी से क्रियान्वयन के अलावा राष्ट्रीय राजमार्गों, राज्यीय राजमार्गों, आदि के विस्तृत विस्तार में त्रुटियों के निवारण को भी उच्च प्राथमिकता दिए जाने की आवश्यकता है।

पत्तन : पत्तनों अर्थात् बंदरगाहों पर समुद्रीय एवं भू-(सड़क एवं रेल दोनों मिलाकर) परिवहन के बीच अंतराफलक बनता है। भारत की 12 प्रमुख पत्तनों तथा अपनी तटरेखा एवं सागर द्वीपों के एक छोर से दूसरे छोर तक 187 प्रमुखेतर पत्तनों (यथा, अधिसूचित लघु/मध्यवर्ती) के साथ लगभग 7,500 किमी. तटरेखा भी है। भारत में वैश्विक माल व्यापार का लगभग 95 प्रतिशत परिभाण में और 70 प्रतिशत मूल्य में

समुद्रीय मार्ग से ही किया जाता है। समुद्र पार नौभार भारतीय पत्तनों पर व्यापार किए जाने वाले कुल नौभार का लगभग 77 प्रतिशत है।

वायु परिवहन : अंतर्राष्ट्रीय तुलना परिणामों द्वारा सड़क एवं रेलमार्गों में भारत का अपेक्षाकृत उत्कृष्ट कार्य-प्रदर्शन अंशतः इसलिए भी है कि अन्य देश (जैसा कि पूर्व एशिया, 'BRCS' अर्थात् ब्राज़ील, रूस, चीन, दक्षिण अफ्रीका और विशेषकर, विकसित देशों में) वायु परिवहन का काफ़ी अधिक प्रयोग करते हैं। यह साक्ष्य भारत में वायु परिवहन विषयक आँकड़ों से मिलता है जहाँ (वर्ष 2012 में) चीन में 201, उक्त (BRCS) देशों में 333, पूर्व एशिया में 490 तथा विकसित देशों में विशाल 1480 की तुलना में केवल 50 व्यक्ति प्रति 1.000 लोगों ने ही हवाई यात्रा की थी। वायु माल परिवहन के संबंध में, भारत का परिमाण (1,000 टन किमी. प्रति 1,000 लोग के लिहाज से) चीन के 13, उक्त (BRCS) देशों के 18, पूर्व-एशिया के 80 और विकसित देशों में विशाल 111 के मुकाबले मात्र 1.4 (वर्ष 2012 में) ही रहा।

बिजली : बिजली उत्पादन, दक्षता एवं उत्पादकता बढ़ाने के लिए घरों, कार्यालयों एवं उद्योग में प्रयुक्त ऊर्जा का एक अति महत्त्वपूर्ण रूप है। बिजली की सुलभता का अभाव उत्पादन एवं उत्पादकता को गंभीर रूप से प्रभावित करता है। भारत में, विद्युत् संजाल की सुलभता केवल 75 प्रतिशत लोगों के लिए ही है। इसका तुलना पूर्व-एशियाई देशों के 86 प्रतिशत, उक्त (BRCS) देशों के 94 प्रतिशत और चीन व विकसित देशों के 100 प्रतिशत से की जा सकती है। भारत के स्तर से तुलना किए जाने पर, बिजली का उपभोग प्रतिव्यक्ति चीन में लगभग 5 गुना अधिक पूर्व-एशिया में 6 गुना अधिक, उक्त (BRCS) देशों में 7.5 गुना अधिक और विकसित देशों में 15 गुना अधिक है।

बैंकिंग व्यवस्था : बैंकिंग व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के बैंक शामिल होते हैं, जिनमें अनुसूचित वाणिज्यिक बैंक (SCBs) क्रियाकलापों की पहुँच और पैमाने के लिहाज से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये बैंक आगे सार्वजनिक.क्षेत्र बैंक, विदेशी बैंक, निजी बैंक तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक के रूप में वर्गीकृत किए जाते हैं। आईसीआईसीआई बैंक एवं एचडीएफसी बैंक जैसे निजी बैंक निजी स्वामित्व एवं प्रबंधन के अधीन हैं। विदेशी बैंक पूर्णतः स्वामित्व प्राप्त परिदान अथवा भारत से बाहर पंजीकृत जनक बैंक की शाखाओं के माध्यम से काम करते हैं। उनकी संक्रियाएँ आमतौर पर श्रेणी-I शहरों तक ही सीमित रहती हैं।

सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (ICT) : सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी की सुलभता उत्पादकता वर्धन के लिए अत्यावश्यक है क्योंकि यहाँ नई पीढ़ी का इस प्रौद्योगिकी के संपर्क में रहने से उन्हें अधिक उत्पादनकारी कार्यों के लिए तैयारी करने में मदद मिलती है। उक्त प्रौद्योगिकी (ICT) की सुलभता प्रति 1,000 व्यक्ति टेलीफोन व इंटरनेट अभिकर्ताओं की संख्या, प्रति 1,000 व्यक्ति कंप्यूटरों की संख्या तथा प्रतिव्यक्ति टेलीफोन, इंटरनेट, आदि पर व्यय के संबंध में मापी जाती है। तुलना के उद्देश्य से (वर्ष 2012 हेतु) नवीनतम उपलब्ध आँकड़े दर्शाते हैं कि भारत में प्रति 1,000 निवारी 69 सेल फोन हैं। यह संख्या चीन में 810, पूर्व एशियाई देशों में 1,186, उक्त (BRCS) देशों में 1,312 तथा विकसित देशों में 1,153 है।

सामाजिक अवसंरचना : सामाजिक अवसंरचना के दो प्रमुख घटक हैं– शिक्षा और स्वास्थ्य। शिक्षा के विभिन्न स्तर हैं– प्राथमिक, उच्च प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा। स्वास्थ्य अवसंरचना में इनके समानांतर हैं – समुदाय स्वास्थ्य केंद्र (CHCs), प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र (PHCs) तथा तृणमूल स्तर पर उपकेंद्र (SCs)।

अप्रैल, 2010 में, भारत में शिक्षा का अधिकार (RTE) अधिनियम लागू हुआ। इसके साथ ही, प्राथमिक शिक्षा (कक्षा एक से आठ) के 'सार्वभौमीकरण' को एक नई प्रेरणा मिली। यह अधिनियम शिक्षा को 6 से 14 वर्ष आयु तक के प्रत्येक बच्चे का मौलिक अधिकार बनाता है और प्राथमिक शिक्षा में न्यूनतम मानक विनिर्दिष्ट करता है। यह सभी प्राइवेट स्कूलों में 25 प्रतिशत सीटें गरीब बच्चों के लिए आरक्षित करने की अपेक्षा करता है और चंदा अथवा कैपिटेशन फ़ीस अर्थात् प्रतिव्यक्ति कर या शुल्क का निषेध करता है। हाल के दिनों में उच्चतर शिक्षा की आपूर्ति और सुलभता बढ़ाने पर ज़ोर दिया जा रहा है। परिणामतः, भारत में उच्चतर शिक्षा (डिग्री एवं डिप्लोमा दोनों कार्यक्रम) हेतु 'सकल नामांकन अनुपात' (GER), जिसे 18–23 के पात्र आयु सहगण में जनसमुदाय की प्रतिशतता के रूप में व्यक्त किया जाता है, वर्ष 2007–08 में 13 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2011–12 में 18 प्रतिशत हो गया है। व्यावसायिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण (VET) में ऐसे प्रायोगिक पाठ्यक्रम शामिल होते हैं जिनके माध्यम से कोई भी व्यक्ति किसी व्यवसाय एवं रोज़गार अवसरों से सीधे संबद्ध 'कौशल एवं अनुभव' प्राप्त करता है। ये प्रशिक्षण पाठ्यक्रम अध्ययन के अन्य परंपरागत पाठ्यक्रमों (जैसे बी. एससी., एम.एससी. आदि) के समानांतर ही होते हैं। तथापि, प्रतिवर्ष रोज़गार बाज़ार में प्रवेश करते विशाल श्रमबल और उच्च बेरोज़गारी दरों को ध्यान में रखते हुए, विभिन्न कार्यक्रमों से आने वाले स्नातकों के निम्न रोज़गार-योग्यता स्तरों के अलावा, व्यावसायिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण (VET) (कंप्यूटर से जुड़े पाठ्यक्रमों को छोड़कर) भारत में अल्पविकसित हैं। ब्राज़ील, रूस, भारत, चीन व दक्षिण अफ्रीका अर्थात् ब्रिक्स (BRICS) अर्थव्यवस्थाओं में वर्ष 2013 में व्यावसायिक शिक्षा में नामांकित उच्चतर, माध्यमिक शिक्षा में छात्रों की प्रतिशतता इस प्रकार रही– रूस : 60 प्रतिशत, चीन : 48 प्रतिशत, दक्षिण अफ्रीका : 14 प्रतिशत, ब्राज़ीज : 8 प्रतिशत और भारत : 2 प्रतिशत।

स्वास्थ्य : स्वतंत्रता प्राप्ति के समय से ही भारत में प्राथमिक, द्वितीयक एवं तृतीयक स्वास्थ्य परिचर्या संस्थाओं के रूप में एक विशाल स्वास्थ्य अवसंरचना है। इसके अंतर्गत, सरकारी अस्पतालों में आते हैं– स्वास्थ्य परिचर्या केंद्र, ज़िला अस्पताल एवं सामान्य अस्पताल, जबकि निजी अस्पतालों में आते हैं– शहरों के उपचार-गृह एवं अति-विशिष्ट अस्पताल। भारत में, निजी स्वास्थ्य परिचर्या व्यय देश के कुल स्वास्थ्य परिचर्या व्यय के लगभग 74 प्रतिशत के समान है (IBEF, 2017)। अस्पतालों और अस्पताल के बिस्तरों में निजी क्षेत्र का अंश क्रमशः 74 प्रतिशत और 40 प्रतिशत है। स्वास्थ्य परिचर्या हेतु बढ़ती माँग निम्नलिखित कारणों से है– (i) बढ़ती आय एवं क्रय. सामर्थ्य; (ii) बढ़ती वृद्धजनसंख्या;(iii) बदलते रोग प्रतिमान;(iv) चिकित्सा पर्यटन में वृद्धि; (v) बेहतर जागरूकता; तथा (vi) निवारक एवं निदानकारी देखभाल। फिर भी, चिकित्सा व्यावसायियों की औसत संख्या (प्रति 1,000 व्यक्ति) भारत में बहुत कम है, यथा – 0.7 डॉक्टर, 1.5 नर्सें और अस्पताल संख्या 1; जबकि इनके लिए विश्व औसत क्रमशः 2.5, 2.5 और 2.9 है।

4.6 संस्थान एवं शासन

उत्तम शासन दक्ष एवं प्रभावी सह-अस्तित्व वाले सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र द्वारा प्रबंधित संस्थानों के सुव्यवस्थित प्रशासन पर ध्यान केंद्रित करता है। इसके दायरे में आते हैं– प्रतिस्पर्धात्मक कार्य-व्यापार हेतु प्राधार, सरकारी कर्मचारियों की उत्तरदेयता, शासन प्रक्रियाओं में पारदर्शिता, सूचना की स्वतंत्रता, नागरिकों तक पहुँच, नागरिक

समाज हेतु किसी बड़ी भूमिका के माध्यम से जनता द्वारा सहभागितापूर्ण शासन आदि। अवसंरचना प्रदान करने में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्रों की सापेक्ष भूमिका इसीलिए इनमें से प्रत्येक घटक की विकास अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती है। सिंचाई एवं जल संसाधन प्रबंधन, ग्रामीण सड़क निर्माण, आर्थिक रूप से अथवा परिस्थितिवश अलाभान्वित क्षेत्रों में विकासात्मक निवेश आदि कुछ क्षेत्रों में अवसंरचना विकास में निवेश हेतु अधिकांश पहल सार्वजनिक क्षेत्र से ही होगी। उपलब्ध सार्वजनिक क्षेत्र संसाधन इसीलिए ऐसे क्षेत्रों की ओर लक्षित किए जाने चाहिए। ठीक इसी कारण, सार्वजनिक-निजी भागीदारियों (PPPs) का अन्य क्षेत्रों में गंभीरता से अन्वेषण किए जाने की आवश्यकता है। भारत में अवसंरचना विकास के समक्ष प्रमुख चुनौतियों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

भूमि अधिग्रहण : अवसंरचना विकास के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं, जिनमें 'भूमि अधिग्रहण' अवसंरचना के विकास मार्ग में एक बड़ा अवरोध है। भूमि अधिग्रहण मामलों के कारण अनेक परियोजनाएँ बाधित अथवा विलंबित हुई हैं। ऐसे अनेक कारक हैं जो भूमि अधिग्रहण में विलंब की ओर अग्रसर करते हैं, जैसे वैधानिक समाशोधन, जन. आंदोलन, विवाद आदि, इनके कारण वर्तमान भूमि-प्रयोग प्रावधानों में संशोधन की नितांत आवश्यकता प्रतीत होती है।

विनियामक एवं पर्यावरणीय अनुमतियों में विलंब : निविदा-पूर्व अवस्था से निर्माणोपरांत अवस्था तक, प्रत्येक चरण में परियोजना चक्र के एक छोर से दूसरे छोर तक विभिन्न श्रेणियों की अनुमतियाँ अपेक्षित होती हैं। उदाहरण के लिए, निविदा-पूर्व अवस्था में, निविदाएँ आमंत्रित करने में ही व्यावहारिक विलंब होते हैं। आगे, राष्ट्रीय हरित अधिकरण, पर्यावरण प्रदूषण नियंत्रण प्राधिकरणों आदि सहित केंद्र, राज्य एवं स्थानीय स्तरों पर सरकार के अनेक विभागों से स्वीकृति आवश्यक होती है।

जल से जुड़े मुद्दे : सभी क्षेत्रों में जल हेतु बढ़ती माँग और किसी युक्तियुक्त जल कीमत नीति का अभाव जल हेतु माँग पर प्रतिकूल प्रभाव डालते रहते हैं। भू-जल संसाधनों का व्यापक अवैज्ञानिक प्रयोग तथा राज्यों के बीच विवादों के अप्रभावी निपटान ने विशेष रूप से कृषि क्षेत्र के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है।

पत्तनों का आधुनिकीकरण : भारतीय पत्तनों के आधुनिकीकरण एवं विकास हेतु अत्याधिक संभावनाओं के बावजूद सरकार प्रमुख पत्तनों तक के आधुनिकीकरण में विफल रही है। वृहद् अंतर्राष्ट्रीय पत्तनों की तुलना में, भारत बेहद पिछड़ा हुआ है। भारतीय पत्तनों की इस स्थिति में योगदान देने वाले कारक हैं– राजनीतिक दबाव (कई बार तटीय क्षेत्रों में रहने वाले 'मत्स्य-पालक' समुदायों के परंपरागत अधिकारों के आधार पर), स्वायत्तता का अभाव, प्रोत्साहनों का अभाव, अत्यधिक अधिकार तंत्रीय तथा पदानुक्रमिक कठोरताएँ।

व्यावसायिक शिक्षा : भारत को वर्तमान श्रम-बाज़ार की आवश्यकताओं के प्रति उन्मुख बनाने के लिए यहाँ व्यावसायिक प्रशिक्षण को विस्तार प्रदान करने की तत्काल आवश्यकता है। जैसे-जैसे भारतीय अर्थव्यवस्था उत्तरोत्तर ज्ञान-आधारित होती जा रही है, आधुनिक उद्योगों की आवश्यकतापूर्ति करने वाले नए एवं संशोधित पाठ्यक्रम अत्यावश्यक होते जा रहे हैं। तद्नुसार, निजी क्षेत्र को, जो इस लिहाज़ से अधिक अनुकूलनीय होता है, एक वृहत्तर भूमिका निभाने के लिए स्वीकृति एवं समर्थन प्रदान किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में, सार्वजनिक-निजी भागीदारी एक उत्तम विकल्प हो

सकता है। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में डिग्री एवं डिप्लोमा कार्यक्रमों के अलावा, लघुत्तर एवं अनौपचारिक प्रशिक्षण सुविधाओं की भी आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 2 (दिए गए रिक्त स्थान में अपना उत्तर लगभग 50–100 शब्दों में लिखें।)

1) किन पहलुओं में अवसंरचना किसी देश के विकास-पथ को निर्धारित करती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'अवसंरचना सेवाएँ' किस प्रकार पर्यावरणीय धारणीयता हेतु योगदान देने में ग़रीबों की मदद करती हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में निजी स्वास्थ्य परिचर्या व्यय का अनुमानित अंश क्या है? किन कारकों ने देश में निजी स्वास्थ्य परिचर्या के इतने बड़े अंश में योगदान दिया है?

.....

.....

.....

.....

.....

4) 'उत्तम शासन' के घटक कौन.से हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

5) भारत में उत्तम शासन एवं संस्थानों के लिहाज से 'अवसंरचना विकास' के समक्ष प्रमुख संरोध कौन-से हैं? विशेष रूप से, पत्तनों/हवाई पत्तनों के आधुनिकीकरण के मार्ग में आने वाले किन कारकों की पहचान की गई है?

.....

.....

.....

.....

.....

4.7 सार-संक्षेप

उन उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों को धारणीय रूप से प्रयोग किया जाना आवश्यक है जिनसे मानव निर्मित संसाधनों की अनेक आधुनिक आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। 'अवसंरचना विकास' के संदर्भ में यह अत्यावश्यक है। प्राकृतिक एवं मानव निर्मित, दोनों संसाधनों की उपलब्धता पर निर्भर अवसंरचना विकास के संदर्भ में यह तो अत्यावश्यक है। किसी भी देश के संसाधनों की उपलब्धता और अवसंरचना विकास के बीच एक गहन संबंध है। अवसंरचना के दो घटक होते हैं– भौतिक अवसंरचना और सामाजिक अवसंरचना। पूर्ववर्ती में आतें हैं– सड़कें, पत्तन, वायु परिवहन, ऊर्जा, बैंकिंग एवं वित्तीय सेवाएँ, सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी आदि। परवर्ती में शिक्षा और स्वास्थ्य के दो प्रमुख घटक आते हैं। किसी भी देश में यह आवश्यक है कि वहाँ एक दक्ष शासन-प्रणाली वाला उत्तम सांस्थानिक प्राधार हो ताकि अर्थव्यवस्था के अवसंरचनात्मक विकास को समर्थन मिले। शासन और संस्थान एक व्यापक पदबंध है, जिसमें आते हैं – कानून के शासन हेतु विधिक प्राधार (सरकारी प्रक्रियाओं में सरकारी कर्मचारियों की जवाबदेही और पारदर्शिता समेत), नागरिकों को सूचना का अधिकार, जनसंस्थाओं की सहभागितापूर्ण शासन, आदि। भारत में, अवसंरचना विकास अनेक संरोधों की वजह से पिछड़ा है। इनमें से कुछ हैं– भूमि अधिग्रहण, विनियामक एवं पर्यावरणीय अनुमतियों में विलंब, जल से जुड़े मुद्दे, पत्तनों एवं हवाई पत्तनों का विकास, व्यावसायिक शिक्षा, आदि।

4.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1) Agrawal, P. (2015). *Infrastructure in India: Challenges and the Way Ahead,* Institute of Economic Growth, IEG Working Paper No. 350.

2) IBEF (2017). Health Care, https://www.ibef.org/download/Healthcare-January-2017. pdf

3) Rajagopalan, R. (2015), *Environmental Studies: from Crisis to Cure* (No. Ed. 3). Oxford University Press.

4.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) वायु, कोयला, खनिज, प्राकृतिक गैस, तेल, सूर्य प्रकाश एवं जल। तालिका 4.1 देखें और उत्तर दें।

2) आर्थिक संवृद्धि, पर्यावरणीय स्थिरता, जैव-विविधता संरक्षण, खाद्य सुरक्षा एवं स्वास्थ्य परिचर्या। कारक हैं– जनसंख्या वृद्धि, वर्धमान सिंचाई आवश्यकताएँ, तीव्र शहरीकरण, औद्योगीकरण तथा उत्पादन एवं उपभोग में वृद्धि।

3) ऐसे मानव निर्मित संसाधन जो समुदाय एवं आर्थिक विकास के लिए आवश्यक हैं (यथा, कागज़, पुस्तकें, अर्ध-संचालक, अस्पताल, सड़कें व पुल, शैक्षणिक एवं अनुसंधान संस्थान), संयुक्त रूप से 'अवसंरचना' कहलाते हैं।

4) परिवहन, संचार, ऊर्जा, माध्यमिक वस्तु-उत्पादन, मानव निर्मित उत्पादक, प्राकृतिक संसाधन, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, सूचना प्रणालियाँ, वित्त एवं बैंकिंग तथा सभी मानव संसाधन विकास घटक।

5) भौतिक अवसंरचना में आते हैं– बिजली, सिंचाई, परिवहन तथा दूरसंचार। सामाजिक अवसंरचना में आते हैं– शिक्षा, स्वास्थ्य एवं चिकित्सीय देखभाल, पोषण, आवास एवं जलापूर्ति।

6) निकृष्ट भौतिक अवसंरचना तथा मानव पूँजी संरोध (उपभाग 4.3.2)।

बोध प्रश्न 2

1) इनके रूप में – (i) उत्पादन का विविधीकरण एवं व्यापार का विस्तार; (ii) जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण; (iii) ग़रीबी का उन्मूलन; तथा पर्यावरण की दशाओं का संरक्षण एवं सुधार।

2) स्वच्छ जल एवं स्वच्छता, ऊर्जा के ग़ैर-प्रदूषणकारी स्रोत, ठोस अपशिष्ट का सुरक्षित निपटान, शहरी क्षेत्रों में यातायात का बेहतर प्रबंधन, आदि पर्यावरणीय लाभ प्रदान करते हैं और साथ ही, पर्यावरणीय गुणवत्ता कायम रखने में भी योगदान देते हैं।

3) यह कुल व्यय का लगभग 74 प्रतिशत है। इसमें योगदायीकारक हैं– बढ़ती आय और व्यय वहन क्षमता; बढ़ती वृद्ध जनसंख्या; बदलते रोग प्रतिमान; चिकित्सा पर्यटन में उछाल; बेहतर जागरूकता तथा निवारक एवं निदानकारी देखभाल।

4) प्रतिस्पर्धापूर्वक कार्य हेतु विधिक प्राधार, सरकारी कर्मचारियों की जवाबदेही, शासन प्रक्रियाओं में पारदर्शिता, नागरिकों को सूचना सुलभता की स्वतंत्रता, नागरिक समाज की एक महती भूमिका के माध्यम से जनता द्वारा सहभागितापूर्ण शासन, आदि।

5) भूमि अधिग्रहण, विनियामक एवं पर्यावरणीय अनुमतियों में विलंब, राज्यों के बीच जल से जुड़े मुद्दों का धीमा निपटान, समुद्री पत्तनों एवं हवाई पत्तनों का आधुनिकीकरण तथा व्यावसायिक शिक्षा। संरोध अर्थात् अवरोधक तत्त्व हैं– राजनीतिक दबाव, स्वायत्तता का अभाव, प्रोत्साहनों का अभाव, अत्यधिक लालफ़ीताशाही तथा पदानुक्रमिक कठोरताएँ।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY